रामायण के प्रेरक प्रसंग

दाजी पणशीकर
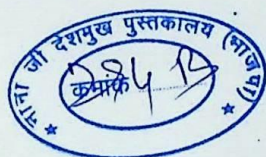
रामायण
के
५१
प्रेरक प्रसंग

दाजी पणशीकर

ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली
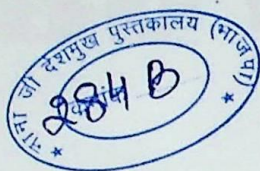
आमुख

शायद ही ऐसा कोई भारतीय मिले, जो आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के महाकाव्य रामायण' से परिचित न हो। रामायण मानवीय आदर्शों का मार्गदर्शक महाकाव्य है, इसीलिए उसे मानवीयता का पथ-प्रदर्शक आदर्श काव्य माना जाता रहा है। सारे संसार में समादरणीय बने इस महाकाव्य के लिए हर भारतीय अभिमान का अनुभव करे तो कोई आश्चर्य नहीं।

संसार भर में सबसे प्राचीन महाकाव्य रामायण को आदिकाव्य होने का गौरव प्राप्त होना स्वाभाविक है। इसी कारण भगवान् श्री रामचंद्र के साधना चरित्र से जनता-जनार्दन परिचित हो सकी। रामभक्ति के प्रचार-प्रसार के मूल में यही महाकाव्य समस्त विश्व में प्रतिष्ठित हुआ है। वाल्मीकि के रस महाकाव्य ने अनेक व्यक्तियों को रामभक्ति की प्रेरणा दी, जीवन को सार्थक बनाने का अवसर दिया। इसी आदिकाव्य से अभिभूत होकर अनेक कवियों ने भारत भर में प्रचलित अपनी-अपनी भाषाओं में रामकथापरक काव्य, महाकाव्य और नाटक लिखे। संत तुलसीदास का 'मानस', संत एकनाथ का मराठी में लिखा 'भावार्थ रामायण' या समर्थ रामदास का 'युद्धकांड'—सबका आधार रामायण है। इस प्रकार के अन्यान्य काव्यों की एक लंबी परंपरा है।

उदात्त रामकथा को समग्र रूप में उपलब्ध कराना, क्षीण होती रामभक्ति की भक्ति-सरिता को प्रवाहित कर अनेक दीन-हीन पतित बनते मानवों का उद्धार करना तथा विविध भाषाओं में गद्य-पद्यमयी सहज-सरल रामकथा विषयक रचनाओं के लिए शारदा-साधकों, कवियों और चिंतकों को, अध्यात्म विद्या के उपासकों को प्रेरित करने का श्रेय सर्वथा वाल्मीकि के रामायण को ही दिया जाना चाहिए। कम-से-कम मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है।

भले ही यह सब सही है, सच है, पर रामायण का अध्ययन न कभी सामान्य लोगों ने किया और न ही करते हैं। सामान्य जन की क्षमता भी असामान्य नहीं हो सकती। गहन अध्ययन के लिए जरूरी धैर्य और संयम सामान्य जन में दुर्लभ रहने वाले

गुण हैं। इतने विशालकाय और उतने ही प्राचीन रस महाकाव्य को आमुख जानने की इच्छा से पालथी मारकर घंटों बैठने की अपेक्षा राममंत्र का जप करना या राम की मूर्ति की सगुणोपासना करना सामान्य व्यक्तियों के लिए अधिक आसान, सुखद और सहज संभव हो जाता है। इसीलिए किसी भी महाकाव्य के अध्ययन में निरंतर दत्तचित्त रहने वाले लोग या अध्येता कम ही होते है। यही बात रामायण के अध्येताओं पर भी लागू हो जाती है।

परिणामत: इने-गिने अभ्यासकों/अध्येताओं के अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भले ही रामायण की कथा को सतही तौर पर जानते हों, उस कथा के विस्तृत विगत और छिपे रहस्यों से वे अनभिज्ञ रहते हैं। प्रवचन, व्याख्यान, उपन्यास, कहानियों काव्य, नाट्य, चलचित्र या धारावाहिकों के द्वारा रामकथा की बहुश्रुत घटनाएँ वे जानते हैं। सीता राम की क्या लगती हैं ? जैसे प्रश्न उन्हें मुश्किल नहीं लगते हैं, पर भगवान् रामचंद्रजी ने सीता मैया का परित्याग क्यों किया, यह वे नहीं जानते हैं। अनायास प्राप्त अयोध्या के सिंहासन को अस्वीकार कर राजधानी की सीमा पर नंदीग्राम में राम के अनुज भरत ने रहना क्यों स्वीकार किया ? राजा दशरथ ने राम को चौदह वर्ष वनवास की आज्ञा दी थी, लक्ष्मण को नहीं; फिर भी वह राम के साथ क्यों गए ? इसका आकलन सामान्य व्यक्तियों को ठीक से नहीं हो पाता। मान लिया कि राम-सीता के साथ लक्ष्मण भी चल दिए, लेकिन सुमित्रा, एक माँ ने अपने बेटे के इस तरह चले जाने के निर्णय का विरोध क्यों नहीं किया ? सामान्य व्यक्ति इस गुत्थी को नहीं सुलझा पाता है। ऐसी अनेक घटनाएँ, प्रसंग या रहस्य रामायण में जगह-जगह बिखरे पड़े हैं, किंतु वे सब मूल रामायण के ही हिस्से हैं। पर सामान्य पाठकों या नवरात्रि में रामायण का पारायण करने वालों या सामान्य जानकारीवालों के लिए सर्वथा अपरिचित ही रहते हैं। इसलिए मूल रामकथा का परितोष करनेवाले बहुविविध घटनाओं के गुंजल्क में से अलग इस अपरिचित रामायण से पाठकों को परिचित कराने का मैंने निश्चय किया। उन दिशाओं का चिंतन किया और उसी के परिणामस्वरूप यह पुस्तक आकार ले सकी।

सर्वसामान्यत: जनसामान्य को ज्ञात रामायण की कथा इस प्रकार है—

अयोध्या के महाराजा दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी, फिर भी संतान का मुँह देखने का सौभाग्य उन्हें नहीं मिल पाया था। सभी उपायों के निष्फल होने पर अंतत: उन्होंने मुनि ऋष्यश्रृंग की देखरेख में पुत्रकामेष्टि यज्ञ किया। इस यज्ञ की सिद्धिस्वरूप अग्निदेवता की कृपा से प्राप्त प्रसाद के फलस्वरूप कौशल्या ने राम, सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा कैकेयी ने भरत को जन्म दिया। चारों ही राजकुमार क्षत्रियोचित शस्त्रास्त्र विद्या को आत्मसात् करते हुए यजुर्वेद में पारंगत होते-होते युवावस्था प्राप्त करते हैं।

राक्षसों के द्वारा बार-बार उपस्थित किए जा रहे विघ्नों से ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए राम और लक्ष्मण राजधानी अयोध्या से बाहर निकलते हैं। मार्ग में राक्षसी वाटिका तथा सामने आ रहे अन्य राक्षसों का वध करते हुए राम-लक्ष्मण महाराजा जनक की नगरी मिथिला में सीता के स्वयंवर में पहुँचते हैं। वहाँ विशालकाय शिवधनुष के राम के हाथों भंग होने पर सीता वरमाला राम के गले में डालकर उनका वरण करती है। राजा जनक अपनी अन्य तीन कन्याओं को दशरथ के तीन पुत्रों—लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत से ब्याहकर अयोध्या के चारों ही राजकुमारों को अपने जामाता बना लेते हैं।

स्वयंवर संपन्न कर चारों ही राजकुमार राजधानी अयोध्या लौटते हैं। महाराजा दशरथ अपने मंत्रियों और सभासदों की सर्वसम्मति से अयोध्या के सिंहासन पर युवराज राम का राज्याभिषेक करने का निर्णय लेते हैं। राज्याभिषेक के मंगल अवसर से पहले ही मंथरा नामक दासी के बहकावे में आकर कैकेयी पूर्व प्रदत्त दो वरों की माँग महाराजा दशरथ के सम्मुख रखती है। प्रथम वर के अनुसार राम को चौदह वर्ष का वनवास और द्वितीय वर के अनुसार भरत का राज्याभिषेक, दोनों ही वरों की स्वीकृति कैकेयी प्राप्त कर लेती है। पूज्य पितृपाद के आदेश से सीता और लक्ष्मण के साथ राम वनवास के लिए चल पड़ते हैं, पर भरत शासक के रूप में सिंहासन पर बैठना अस्वीकार करते हुए राजधानी से बाहर नंदीग्राम में रहते हुए अयोध्या के राजकाज की देखरेख करने का निर्णय लेते हैं।

वनवास के दौरान राक्षसराज रावण छद्मवेश में राम की कुटिया से सीता मैया का अपहरण कर उन्हें लंका ले जाता है। सीता को ढूँढ़ निकालने के लिए राम किष्किंधा के स्वामी सुग्रीव से मित्रता कर लेते हैं और बदले में बाली का वध कर देते हैं। सुग्रीव की वानर सेना को कहीं पर सीता का अता-पता नहीं चल पाता है। आखिरकार जटायु के भाई संपाती के द्वारा सीता को लेकर रावण के द्वारा लंका अपहृत कर ले जाने का समाचार राम, सुग्रीव और वानरों को प्राप्त होता है।

राम के आदेश से हनुमान वायुमार्ग से लंका पहुँचकर सीता को खोज ही लेते हैं। राम की मुद्रिका उन्हें सौंपकर लौटते हुए लंका में आग लगाकर वे राम के सामर्थ्य की धाक भी जमाते हैं।

राम द्वारा अपनाए गए राजनीति के साम, दाम, दंड और भेद इन चारों उपायों को जब रावण ने धता बता दिया तब रावण के साथ भीषण युद्ध की घोषणा राम करते हैं। इस युद्ध में रावण के सारे सेनापति ही क्या, स्वयं रावण, कुंभकर्ण तथा इंद्रजीत का वध कर राम विजयश्री का वरण कर लेते हैं। युद्ध प्रारंभ हो इससे पूर्व ही विभीषण राम की शरण में आ चुके थे। वे राम की ओर से लड़ते हैं और रावण वध के बाद लंका के सिंहासन पर बैठते हैं।

लंका विजय कर श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के अयोध्या लौटने पर राम का

राज्याभिषेक संपन्न हो जाता है। राम जनापवाद के कारण सीता का परित्याग कर देते हैं। जंगल में छोड़ दी गई असहाय सीता को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में आश्रय मिल जाता है। वहीं पर लव-कुश नामक दो पुत्रों को वे जन्म देती हैं। अंततोगत्वा भूमिकन्या सीता स्वयं पृथ्वी में समा जाती हैं और सिंहासनाधिष्ठित राम अकेले-के-अकेले ही रह जाते हैं। लक्ष्मण जब अपना शरीर त्याग देते हैं, तब राम भी सरयू में आत्म-विसर्जन कर अवतार की इतिश्री कर लेते हैं।

—दाजी पणशीकर

बी-१-३०३, स्वस्तिक पार्क
आज़ झाद नगर, मानपाडा
घोड़बंदर मार्ग
ठाणे (पश्चिम)-४००६०७

सूची-क्रम

रामायण का श्रीगणेश

व्याध के तीर से घायल होकर क्षणमात्र में ही प्राण छोड़ने वाले क्रौंच पक्षी को देखकर वाल्मीकि का दिल पसीज गया। उस करुणा ने ही पहले काव्य का सर्जन किया—मा निषाद! मा निषाद ने ही महर्षि को दयाधन, उदात्त कवि बनाया। प्रथम कवि! आदि कवि! आदि कवि का काव्य आदि काव्य! आदिकवि वाल्मीकि! आप रामायण को पढ़ना शुरू करें तो देखिएगा, उसका प्रारंभ उदात्त पृष्ठभूमि पर निश्चल, स्थिर है, वैसा ही उसका मध्यांतर, वैसा ही उसका पटाक्षेप भी, समापन! या कहिए आदर्श मानव जीवन का फिर से शुभारंभ। महाकाव्य में मंद-अमंद निर्झरित संस्कृति और समाज का संकेत उसका प्रारंभ ही कर देता है। महाकाव्य के कुछ प्रारंभिक श्लोक ही आदि कवि के कवि का उपोद्घात कर देते हैं। महाकवि की सोच के उच्चतर स्तर के साथ मनुष्यमात्र की परिपूर्णता या परिपूर्ण मानवता का एक चित्र ही मानो इन श्लोकों में सहज ही मुखर हो उठता है। यहाँ वाल्मीकि न केवल ऋषि हैं, न मात्र महाकवि; वरन् मनुष्य श्रेष्ठ, महामानव दिखाई दें तो कोई आश्चर्य नहीं। ''न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'' की वे जाने-अनजाने याद दिला जाते हैं। यहाँ पर पाठक बड़ी आसानी से समझ लेंगे कि रघूत्तम प्रभुराम के जीवन और यशो-गाथा गाने तक ही वाल्मीकि स्वयं को सीमित नहीं करना चाहते, केवल चरित्र का बखान उनका मंतव्य नहीं, अपितु भगवान् रामचंद्र के रूप में वे उस व्यक्तित्व को, उस मानव को चित्रांकित करना चाहते हैं, जो आदर्श हो, परिपूर्ण हो, समूची मानवता का सिरमौर हो। काव्य के प्रारंभ में वाल्मीकि और देवर्षि नारद का संवाद ही इन सब बातों का खुलासा करता है, साथ ही वह पाठकों का मार्गदर्शन भी करता है कि किस उदात्त भाव के साथ प्रस्तूयमान महाकाव्य को पढ़ना श्रेयस्कर होगा।

यह महाकाव्य भगवान् श्रीराम का चरित्र है, स्वयं भगवान् ही इसके नायक हैं। इस विषय में शंका के लिए तो कोई स्थान नहीं है। राम के माध्यम से जिस श्रेष्ठ पुरुष को वाल्मीकि चित्रित करना चाहते हैं, उसके संबंध में उनकी कल्पनाएँ सुस्पष्ट हैं। समाज

का नेतृत्व करने वाला वह सर्वांगीण होने के साथ सर्वोत्तम की मर्यादा मानने योग्य हो। महाकवि इस विषय में बहुत दक्ष व सचेत हैं। यह पाठक को हर क्षण प्रतीत होगा। प्रारंभ में ही वाल्मीकि द्वारा देवर्षि नारद को पूछे गए प्रश्न भी चरित्र नायक के कौन से स्तर का हो और कौन से अलौकिक आदर्श से युक्त होना चाहिए, इसका संकेत करते हैं। केवल स्फूर्ति और ईश्वर-दत्त काव्य-प्रतिभा के धनी होने से ही आदिकवि ने हाथ में कलम नहीं ली है, अपितु बहुत महान्, आदर्श स्वरूप ऐसे व्यक्तित्व का वे अद्‌भुत, अलौकिक चित्रण करना चाहते हैं। यह तथ्य जानकार पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाएगा।

बालकांड रामायण का पहला प्रकरण है। महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए, शायद इसीलिए कांड के अध्याय को सर्ग कहा गया है। बालकांड के पहले अध्याय, अर्थात् सर्ग के आरंभ में दिए गए वाल्मीकि-नारद संवाद के कुछ श्लोकों की चर्चा करना उचित होगा। महाकवि के शब्दों में नारद का वर्णन देखिए—

तप: स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनि पुंगवम्॥ १॥

अर्थात् वेदाध्ययन रूपी तपस्या में (नित्य) लीन, वैदुष्य और वक्तृता में श्रेष्ठ तथा ऋषि-मुनियों में वरिष्ठ ऐसे नारद से महर्षि वाल्मीकि ने पूछा।

वाल्मीकि अपने प्रस्तूयमान काव्य के संदर्भ में जिन नारदजी से प्रश्न पूछना चाहते हैं, उन देवर्षि नारद की योग्यता उनके व्यक्तित्व को इस श्लोक में उकेरा गया है। देवताओं की जब-तब चारण-भाटों की तरह प्रशंसा के गीत गाने या चुगली कर वाद-विवाद खड़े करने वाले ही नहीं थे, अपितु प्रतिदिन स्वाध्याय करनेवाले उत्तम वक्ता, ज्ञानी और श्रेष्ठ तपस्वी थे नारद, इसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। महाकाव्य के पहले ही श्लोक में देवर्षि नारद का यह गुणगान प्रकारांतर से महाकवि द्वारा नारदजी को किए जा रहे अभिवादन के रूप में समझा जा सकता है। काव्य के प्रारंभ में ही जिस तरह से नि:संग, निरासक्त, तपस्वी, विद्वान् नारदजी जैसे महान् व्यक्तित्व का गुण गौरव किया गया हो, उसी से पाठक-महानुभाव प्रस्तुत महाकाव्य के वैचारिक और भावनात्मक विस्तार की, उसकी महत्ता की, उसकी उदात्तता की कल्पना कर सकते हैं। देखिए, ऐसे विश्वश्रुत देवर्षि नारद को, किंबहुना उतनी ही योग्यता से संपन्न हमारे महाकवि क्या-क्या पूछना चाहते हैं?

कोन्वस्मिन सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्य वाक्यो दृढ़व्रत:॥ २॥

हे देवर्षे! इस समय पृथ्वी पर वीर्यवान् (पराक्रमी), धर्म के रहस्य जानने वाला,

कृतज्ञ, सत्य बोलने वाला, आपातकाल में भी धर्माचरण में अपनाए हुए नियमों/व्रतों का पालन करने वाला ऐसा (बहुगुण संपन्न) कौन (कोई) पुरुष है?

वाल्मीकिजी फिर पूछने लगते हैं—

चारित्रेण को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥ ३॥
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमाकोनसूयकः।
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥ ४॥

देवर्षे! (और) सदाचरणशील, सकल प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील, विद्वान्, समर्थ, अपने दर्शनमात्र से आनंद देने वाला, मनोनिग्रही, तेजस्वी, क्रोध पर विजय पाया हुआ युद्धादि में क्रुद्ध, यदि वह क्रोधित हो तब देवताओं के मन में भय पैदा करने वाला, ऐसा कौन पुरुष इस पृथ्वी पर है?

वाल्मीकिजी को इतने प्रश्न पूछने पर भी चैन कहाँ? अब इनका उत्तर पाने के लिए देखिए उनकी उत्कंठा कैसे बढ़ जाती है—

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतुहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्॥ ५॥

आदिकवि का अनुनय-विनय देखिए। वे कहते हैं—इस प्रकार का कौन पुरुष हो सकता है। यह बताने के लिए आप समर्थ, सक्षम हैं। महाराज! मेरी उत्कंठा बढ़ रही है। कृपया मेरी जिज्ञासा को शांत कीजिए। (जल्दी) बताइएगा, ऐसा बहुगुणी कौन पुरुष इस समय पृथ्वी लोक में है (होगा)?

वाल्मीकि द्वारा पूछे गए प्रश्नों में आए हुए विशेषणों पर यदि हम गौर करें तब भी आसानी से समझा जा सकता है कि उनका अभीप्सित नायक कैसा होगा। महर्षि यह तो जानते ही होंगे कि अलग-अलग गुणों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकृति के नायक तो सुलभ हो ही जाएँगे, लेकिन इससे संतोष नहीं हो सकता था। क्योंकि किसी एक गुण के होने से पूर्णता की अनुभूति हो पाना संभव नहीं था। महर्षि की कल्पना का नायक लौकिक होते हुए अलौकिक, बहुगण-संपन्न महामानव था। ऐसे अपूर्व पुरुषोत्तम की कल्पना तो उन्होंने कर ली, पर न तो ऐसे किसी व्यक्ति को देखा था, न ही कभी किसी से सुना था। ऐसा वीर पुरुष पृथ्वी पर हो, न हो एक तरफ महर्षि के मन में आशंका रही हो तो दूसरी तरफ ऐसा पुरुष होगा, लेकिन वे जानते न हों। यदि ऐसा हो तो फिर किसे पूछा जाए? कौन ठीक तरह से बता सकेगा? ऐसे भँवर-जाल में फँसे वाल्मीकि को नारदजी का स्मरण हो आया, क्योंकि तीनों लोकों में नित्य भ्रमण करनेवाले नारद ही ऐसे थे जो निष्पक्ष

थे, अजातशत्रु थे। इसलिए महर्षि को यह विश्वास हो गया कि मुनि श्रेष्ठ नारदजी ही उनकी शंका का निरसन कर सकते हैं। उनका समाधान हो सकता है और किसी से पूछने की अपेक्षा इसीलिए वे सीधे देवर्षि के पास गए। पूछनेवाला वैसा ही अद्वितीय ज्ञानी और उत्तर देने वाला भी वैसा ही अनुपम ज्ञाता! आदिकाव्य रामायण का प्रारंभ ही श्रेष्ठ, वरिष्ठ, तपस्वी ऐसे दो व्यक्तियों के संवाद से हो रहा है। केवल आदिकाव्य होने में ही रामायण की श्रेष्ठता नहीं है, उसका उपोद्घात भी दो वरिष्ठ तपस्वी कर रहे हैं। इसी से महाकाव्य की श्रेष्ठता में चार चाँद लग जाते हैं।

रामायण आदिकाव्य है और उसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की है, यह बात जिन्होंने कभी रामायण नहीं पढ़ी है वे भी जानते हैं, पर उसकी रचना किस उदात्त पृष्ठभूमि में हुई, यह जानने के लिए वाल्मीकि और नारद के संवाद निश्चय ही उपादेय सिद्ध होंगे। परिचित-अपरिचित महाकाव्यों की अपेक्षा उसके निरालेपन का आभास कराएगी।

□

देवर्षि नारद के राम

वाल्मीकि के प्रश्न सुनकर नारदजी आनंदित हुए। स्वाभाविक भी था। अच्छे जिज्ञासु के प्रश्नों से ज्ञानी को समाधान ही मिलता आया है। महर्षि को अपेक्षित चरित्र नायक उनकी पारखी नजर से आखिर कैसे ओझल हो सकता था। उन्होंने उत्तर देना प्रारंभ किया। बालकांड के प्रथम सर्ग ८-२० श्लोक इन्हीं उत्तरों को सँजोए हुए हैं और ये सारे ही प्रभु राम के विशेषणों-गुणों को प्रकट करने वाले हैं। श्लोकों में निबद्ध मूल विशेषणों को अर्थ सहित यहाँ अंकित करना श्रेयस्कर होगा। देखिए, महर्षि वाल्मीकि के प्रश्नों का समाधान किस प्रकार देवर्षि करते हैं—

१. इक्ष्वाकुवंशप्रभव:	इक्ष्वाकु के वंश में जाया-जनमा।
२. रामो नाम जनै: श्रुत:	'राम' इस अभिधान से लोकविख्यात
३. नियतात्मा	मन को संयमित रखनेवाला
४. महावीर्य:	महान् पराक्रमी, प्रतापी
५. द्युतिमान्	तेजस्वी
६. धृतिमान्	धैर्यवान्
७. वशी	इंद्रियों को अपने वश में रखनेवाला
८. बुद्धिमान्	धीमान्
९. नीतिमान्	नीति-अनीति का निर्णय कर नीति-मार्ग का अवलंब करनेवाला
१०. वाग्मी	उत्तम वक्ता
११. श्रीमान्	शोभायुक्त, वैभवशाली
१२. शत्रुनिबर्हण:	शत्रु का वध करनेवाला
१३. विपुलांस:	उन्नत कंधों वाला, वृषस्कंध
१४. महाबाहु	लंबी भुजाओं वाला, आजानुबाहु

१५. कंबुग्रीव:	तीन रेखाओं से युक्त कंठवाला
१६. महाहनु:	मांसल हनु (ठुड्डी) वाला
१७. महोरस्क	विशाल वक्षस्थल से युक्त
१८. महेष्वास:	बड़े आकार का धनुष धारण करता हो
१९. गूढजत्तु:	कंधों की अदृश्य अस्थिसंधियों से युक्त
२०. अरिंदम:	शत्रु विजयी
२१. आजानुबाहु:	घुटनों तक जिसके हाथ पहुँचते हों
२२. सुशिरा:	उत्तम मस्तक
२३. सुललाट	शोभन ललाट वाले
२४. सुविक्रम	उत्तम गति या उत्तम के लिए पराक्रम करने वाले
२५. सम:	सानुपातिक देहयष्टि वाले
२६. समविभक्ताङ्ग	परस्पर समान व भिन्नांशी अवयव
२७. स्निग्धवर्ण	शुभ-वर्ण
२८. प्रतापवान्	शूर
२९. पीनवक्षा:	पुष्ट, उन्नत वक्षस्थल
३०. लक्ष्मीवान्	ऐहिक-अलौकिक ऐश्वर्य/शोभा से युक्त
३१. धर्मज्ञ	प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप धर्म/कर्तव्य का ज्ञाता
३२. विशालाक्ष	आयत नेत्रों से युक्त
३३. शुभलक्षण:	सामुद्रिकादि शास्त्रों में प्रतिपादित अच्छे लक्षणों वाला
३४. सत्यसंचय:	सत्यमार्गी, सत्य का ही संधान करनेवाला
३५. प्रजानां च हिते रत:	जनकल्याण के लिए समर्पित
३६. यशस्वी	कीर्तिमान्, ख्यातियुक्त
३७. शुचि	आचार-विचार में पवित्र
३८. वश्य:	विनयशील, विनम्र
३९. ज्ञानसंपन्न	ज्ञान (शुद्ध-लौकिक) से समृद्ध
४०. समाधिमान्	स्थिरचित्त

कुछ विशेषणों में राम कैसे हैं, किनके जैसे हैं अथवा उनका व्यवहार, आचरण कैसा है, कैसे वे लोकप्रिय हैं आदि तथ्यों का संकेत भी हमें सुगमता से दिखाई देगा।

४१. प्रजापतिसम:	ब्रह्मदेव के समान
४२. श्रीमान्	शोभा-संपन्न
४३. धाता	प्रजा का पालनकर्ता

४४. रिपुनिषूदनः	शत्रुओं का संहारक
४५. रक्षिता जीव लोकस्य	पृथ्वीलोक का रक्षणकर्ता
४६. धर्मस्य परिरक्षिता	धर्म का रक्षक
४७. रक्षिता स्वस्थ धर्मस्य	अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला
४८. स्वजनस्य रक्षिता	परिजन-सेवक आदि का रक्षक
४९. वेदवेदांग तत्त्वज्ञ	(चार) वेद तथा (छह) वेदों-वेदांगों के तत्त्वों का ज्ञाता
५०. धनुर्वेदे च निष्ठितः	धनुर्विद्या में प्रवीण
५१. स्मृतिमान्	अच्छी स्मरणशक्ति से संपन्न
५२. सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ	सभी शास्त्रों के अर्थ का तत्त्ववेत्ता
५३. प्रतिभानवान्	समय के अनुसार स्फूर्तियुक्त
५४. सर्वलोकप्रियः	(समाज में) सभी लोगों का प्रिय
५५. साधुः	सौम्य, सुजन, संसार की नश्वरता और परब्रह्म की अक्षय स्थिति जाननेवाला
५६. अदीनात्मा	उदार
५७. विचक्षण	कुशल
५८. आर्य	सर्वमान्य, श्रेष्ठ
५९. सर्वसमः	समदर्शी, एक सा व्यवहार रखनेवाला
६०. सदैव प्रियदर्शनः	हर समय जनता के लिए जिसका दर्शन सुखद है
६१. सर्वदाभिगतः सदिभः समुद्र इव सिन्धुभिः	समुद्र में मिलने वाली नदियों के समान, जिनसे मिलने के लिए सज्जन व्यक्ति आते ही रहते हों।
६२. सर्वगुणोपेतः	सर्वगुणसंपन्न
६३. कौसल्यानंदवर्धन	कौशल्या के आनंद को बढ़ानेवाला
६४. समुद्र इव गाम्भीर्ये	सागर की तरह गंभीर
६५. धैर्येण हिमवान् इव	हिमालय की तरह धैर्यवान्
६६. विष्णुना सदृशो वीर्ये	पराक्रम में विष्णु के समान
६७. सोमवत् प्रियदर्शन	चंद्रमा के समान आह्लाददायक
६८. कालाग्नि सदृशः क्रोध	प्रलयंकर अग्नि के समान (समायानुसार) क्रोधी
६९. क्षमया पृथिवीसमः	पृथ्वी के समान क्षमाशील

७०. धनदेन समस्त्यागे	कुबेर की तरह व्यय करनेवाला
७१. सत्ये धर्म इवापर:	सत्य के लिए मानो दूसरा मूर्तिमान् धर्म
७२. तमेव गुणसम्पन्नम्	इस प्रकार (अनेक) गुणों से युक्त
७३. सत्यपराक्रमम्	अमोघ पराक्रमवाला
७४. ज्येष्ठगुणैर्युक्त:	उत्तम गुणों से युक्त
७५. प्रकृतीनां हितैर्युक्तम्	प्रजानुरंजन में तत्पर
७६. ज्येष्ठ	बहुमान्य, श्रेष्ठ

प्रभु रामचंद्रजी के सारे विशेषण रामायण के प्रारंभ में बालकांड के प्रथम सर्ग में नारदजी द्वारा दिए गए उत्तर के अंश हैं। हालाँकि इनमें से प्रत्येक विशेषण पर स्वतंत्र चर्चा की जा सकती है, फिर भी इतना ध्यान तो हमें रखना ही होगा कि हर विशेषण का अपना अलग महत्त्व है। सारे ही गुण राम में हैं। एतावत् कहकर न नारदजी को समाधान होता, न ही वाल्मीकि को। राम में निहित इन गुणों में से हरेक का महत्त्व प्रकट हो, इसलिए हर गुण के लिए अलग विशेषण काम में लिया गया है तो कतिपय गुणों पर जोर देने के लिए उपमा अलंकार का प्रयोग किया गया है। गुण नामावली को पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्णन रघुवंश के किसी राजकुमार तक सीमित नहीं है, इनका उद्देश्य किसी अलौकिक व्यक्तित्व का संकेत करना प्रतीत होता है। इनमें से कितने ही गुणों का स्वयं में जैसे अभाव होना अपने ध्यान में आता है, वैसे ही कम-से-कम एक गुण तो प्राप्त करना ही चाहिए, ऐसी भावना हमारे मन को स्पर्श किए बिना नहीं रह पाती है। एक गुण ही हममें से किसी को 'भारत-रत्न' तक ले जा सकता है तो इन सारे ही गुणों के निधान प्रभु रामचंद्र को भारतीयों के लिए ही, संपूर्ण मानवता के लिए आदर्श मानदंड के रूप में युग-युगों से स्वीकार किए जाने में क्या आश्चर्य है ? मनुष्य जीवन के विकास की अंतिम मर्यादा, अर्थात् प्रभु रामचंद्र के गुणों के उत्कर्ष का दर्शन कराने वाली होने से रामायण विश्ववंद्य हुई। इसलिए कम-से-कम हर पढ़े-लिखे भारतीय को जीवन में एक बार रामायण पढ़नी चाहिए और जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, वे एक बार सुन तो सकते ही हैं। उसके बिना न तो जीवन की सफलता का आनंद मिलेगा, न ही आपकी-हमारी नैया भवसागर को तर सकेगी। जीवन और मुक्ति, दोनों का एक ही सहज, सरल उपाय है—रामायण।

इतन सारे गुण किसी व्यक्ति में होना संभव नहीं है। आप और हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, उसे देखिए। संसार के बड़े-से-बड़े आदमी अपने एक ही गुण के कारण विख्यात हुए हैं। किसी एक ही गुण की सिद्धि के लिए उन्होंने अपना जीवन खपा दिया है, उनकी तारीफ करते हुए हम थकते नहीं हैं तो संसार के सारे ही गुणों का सागर सिद्ध हुए भगवान् राम की प्रशंसा हम कितने शब्दों में और कितनी ही भाषाओं में कर लें तब

भी वह अपूर्ण ही रहेगी, मनुष्यमात्र की अपूर्णता की तरह। समर्थ रामदासजी ने ठीक ही कहा है—अपूर्ण पूर्ण का बखान पूर्ण रूप से कैसे करें?

रघुवंश के प्रारंभ में ही महाकवि कालिदास 'क्व सूर्यप्रभवो' इत्यादि के द्वारा अपनी मतिमंदता के कारण रघुवंश वर्णन कहीं हास्यास्पद नहीं हो, ऐसी भविष्यवाणी ही कर देते हैं तो भगवान् राम के दासानुदास तुलसीदासजी महाराज अपनी मदद के लिए समस्त सृष्टि को ही निमंत्रित करते हैं। दाशरथी राम के दास, रामदास समर्थ होते हुए भी स्वयं को रामदासोत्तम मानते हुए धन्य-धन्य हो जाते हैं। प्रतिभा-पुरुषोत्तम संत एकनाथ को 'भावार्थ रामायण' में रामप्रभु का वर्णन करना अपनी प्रतिभा से परे लगता है। बड़े-बड़े संत और महाकवियों की राम और रामायण के गुणानुवाद में यह स्थिति है, आपकी हमारी तो क्या हालत होगी?

इसलिए राम बनने का प्रयास नहीं कीजिए। राममार्गी बनिए, उसी में कल्याण है। भक्ति कीजिए राम की, दास बनिए पुरुषोत्तम के। यह भक्ति ही भव-बाधा दूर करेगी, जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाएगी। स्वरूप समझने और परब्रह्मरूप होने में सहायक सिद्ध होगी।

□

रामकथा का मूल

अपने प्रस्तावित काव्य के चरित्र नायक की वाल्मीकि महर्षि की खोज पूरी हुई। वे जैसा चाहते थे वैसा ही बहुगुणसंपन्न नायक उन्हें मिल गया। अतिथि नारदजी का काम संपन्न हुआ। अब महर्षि वाल्मीकि ने नारदजी की पूजा की और नारदजी को विदा किया। आकाश मार्ग मानो उनकी प्रतीक्षा कर रहा हो, नारदजी ने प्रस्थान किया। वाल्मीकिजी ने भी अपने शिष्यों के साथ स्नान के लिए तमसा नदी की ओर अपने कदम बढ़ाए।

अपने शिष्यों से वल्कल लेकर महर्षि नदी किनारे स्नान-संध्या के लिए उपयुक्त स्थान देखने के लिए घूमते हुए तमसा के वन को निहारने लगे। वन में एक पेड़ के ऊपर से क्रौंच पक्षी मधुर आवाज करते इस डाली से उस डाली पर विहार कर रहे थे। उनकी मधुर ध्वनि के कारण वाल्मीकिजी की नजर उधर चली गई। कुछ ही क्षण बीते होंगे कि दूर से सनसनाते हुए आनेवाले एक तीर ने क्रौंच-दंपती में से पति को घायल कर दिया। खून से सने, तड़पते पति को देखकर मादा विलाप करने लगी। क्षणार्ध का ही अवकाश, नर-क्रौंच के प्राण-पखेरू हो गए। मरते क्रौंच का तड़पना और मादा का करुण क्रंदन सुनकर महर्षि की करुणा जाग उठी। व्याध ने पक्षी का शिकार तो कर ही दिया था। कायासक्त नर को मारकर उसने अधर्म का आचरण भी किया था। इससे और भी अधिक व्यथित वाल्मीकिजी के मुखारविंद से छंदबद्ध एक श्लोक पहली ही बार मुखरित हुआ—

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥१५॥

हे शिकारी! तुमने चूँकि काममोहित क्रौंच युगल में से एक की हत्या की है, इसलिए तुम भी इस पृथ्वी पर बहुत समय तक नहीं रह पाओगे।

अपनी तपस्या के लिए घातक शाप वचन सहजता से ही क्यों न हो, अपनी वाणी से अभिव्यक्त होने पर महर्षि का चिंताग्रस्त होना स्वाभाविक ही था। शाप-वचनों के संबंध में वे कुछ सोच-विचार करने लगे। एक कल्पना मन में उभरी। वे शिष्यों को कहने लगे—

पादबद्धोक्षरसमः तन्त्रीलय समन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥१८॥

छंद के अनुसार समान अक्षरों का चरणबद्ध (यह) श्लोक वीणा मिलाकर अन्य (ताल) वाद्यों की संगति में गाए जाने योग्य बना है। शोकाविष्ट मेरी वाणी से प्रकट हुआ है। इसलिए उसका यश ही फैलेगा, अन्यथा (अपयथ) नहीं।

व्याध के द्वारा क्रौंच-युगल में से नर-क्रौंच की की गई हत्या की सहज स्वाभाविक रूप से वाल्मीकिजी की अहैतुकी शापवाणी निःसृत हुई और दूसरे ही क्षण, यों प्रकट छंदबद्ध श्लोक के विषय में अनायास एक भविष्यवाणी भी महर्षि के मुख से निकल पड़ी।

यदि देखा जाए तो महर्षि वाल्मीकि एक महान् तपस्वी, अजातशत्रु व्यक्ति थे। जाने-अनजाने भी, शाप की तो निश्चय ही अपेक्षा न थी। इसलिए वे चिंतित हुए, कुछ अनमने से हुए। अब तक की गई तपस्याएँ इस प्रकार की शापवाणी से कहीं व्याघात न उत्पन्न हो, इस कल्पनामात्र से उन्हें सदमा लगा। तड़फते क्रौंच पक्षी और करुण विलाप करती उसकी मादा को देखकर महर्षि के व्यथित हृदय की वह शापवाणी एक आह सी निकली थी, क्रोध या आवेश में उस निषाद की मृत्यु के हेतु पुरस्सर दी गई वह बद्दुआ या शाप नहीं था, व्याकुल मन की प्रतिक्रिया नहीं थी वह। फिर भी महर्षि की व्यथा का कोई पार न था। सही देखा जाए तो ऐसी प्रतिक्रिया महर्षि की महत्ता और भी अधिक वृद्धि करती है। जब किसी हिंसक घटना की प्रतिक्रिया में चराचरस्वरूप किसी तपस्वी के मुँह से यदि किसी तरह की शापवाणी प्रकट होती है तब उसका नैतिक दायित्व उस तपस्वी का नहीं होता, क्योंकि ऐसी प्रतिक्रिया वैश्विक शक्ति की प्रतिक्रियात्मक संवेदना की अभिव्यक्ति मात्र होती है। इसीलिए हमारे लिए यह गौर करने की बात है कि प्रथमतः छंदबद्ध रूप में प्रकट उस वाणी को कीर्ति का वरदान भी प्राप्त हुआ। अस्तु।

इस घटना के पश्चात् महर्षि वाल्मीकिजी स्नान-संध्या से निवृत्त होकर शिष्यों के साथ तमसा के तीर से लौटने लगे। थोड़ी देर बाद आश्रम में पहुँचकर अपने आसन पर विराजे। मन में अभी भी 'मा निषाद!' का ऊहापोह चल रहा था। नित्य स्वाध्याय के बाद वे अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हुए ही थे कि आश्चर्यजनक प्रसंग उपस्थित हुआ। स्वयंप्रभु,

तेजस्वी, त्रिलोकी के जनक ब्रह्मा स्वयं वाल्मीकिजी से मिलने के लिए आश्रम में पधार रहे थे। उन्हें देखते ही परम आनंदित होकर स्वागत में अपने आसन से उठ खड़े हुए, उन्हें अत्यंत आदर के साथ अपने आसन पर विराजित होने के लिए निवेदन किया। ब्रह्माजी के आसनस्थ होने पर महर्षि उनकी साद्यंत पाद्य पूजा की ओर ब्रह्माजी की आज्ञा लेकर उनके साथ बैठ गए। फिर 'मा निषाद' का स्मरण होकर कुछ चिंतित से हुए। उस दशा में ही फिर से वही श्लोक उनके मुख से न जाने क्यों उच्चरित हुआ। चेहरे पर चिंता की लकीरें छाने लगीं। तब स्मित बिखेरते हुए ब्रह्माजी ने वाल्मीकि से कहा—

श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा॥ ३०॥

अब एक बार यह श्लोक आपसे बन गया है, इस विषय में कोई विचार या चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, यह आपके यश का कारण सिद्ध होगा।

मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन! प्रवृत्तेयं सरस्वती।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वं ऋषिसत्तम॥ ३१॥

अथात् हे ब्रह्मन्! मेरी इच्छा से ही यह सरस्वती (आप द्वारा काव्य रचना में) प्रवृत्त हुई है। इसलिए हे मुनिवर! आप राम के समग्र चरित का वर्णन (काव्य में) कीजिए।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए ब्रह्माजी मुखर हुए। संसार में एक राम ही मनोहर होने के साथ-साथ सुविचारी, धर्मात्मा और भगवत्स्वरूप हैं। इसलिए जैसा नारद से तुमने सुना है वैसे ही सद्बुद्धिप्रेरक राम की कथा को आप काव्यबद्ध कीजिए। साथ ही उन्होंने यह भी भविष्यवाणी की। लक्ष्मण के साथ सुविचारी राम, सभी राक्षस, जनकसुता सीता जो भी ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध चरित्र होगा, जो अन्य लोग न जानते हों, उन सब (उन सभी घटनाओं) का ज्ञान तुम्हें होगा।

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्॥ ३५॥

इस संबंध में तुम्हारी वाणी कभी भी असत्य नहीं होगी। अत: मनोरम और पुण्यदायिनी रामकथा का तुम श्लोकबद्ध वर्णन करो।

अभी रामकथा लिखने का प्रारंभ करना बाकी है। फिर भी उसकी चिरंतनता का वरदान ब्रह्माजी के ही शब्दों में देखिए—

यावत्स्थास्यन्ति गिरय: सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ ३६॥

भूलोक पर जब तक पर्वत स्थिर रहेंगे और नदियाँ बहती रहेंगी, तब तक (यह) रामकथा लोकप्रिय रहेगी।

ऐसी अभूतपूर्व रामकथा के रचनाकार को आशीर्वाद भी वैसा ही मिला है—

यावद्रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति।
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं महालोकेषु निवत्स्यसि॥३७॥

ब्रह्माजी की उदारता देखिए। वे वाल्मीकि को आशीर्वाद दे रहे हैं—तुम्हारे द्वारा रचित रामकथा जब तक प्रचार में रहेगी तब तक अधोभाग में ही रहने के योग्य होने पर भी तुम सभी लोकों के ऊर्ध्वभाग में स्थित मेरे लोक में (ही) रहोगे।

महर्षि वाल्मीकि का तमसा-तीर पर स्नान के लिए जाना और व्याध के तीर से क्रौंच नर का मरना और व्यथित हृदय से महर्षि की शापवाणी प्रकट होना, कैसा अजीब संयोग है? कामासक्त क्रौंच की मृत्यु के कारण वेदना तो ऋषि के मन में थी, पर व्याध के प्रति कुछ क्रोध का भाव रहा होगा। ब्रह्माजी तो सब जानते हैं, सब ताड़ लिया उन्होंने। वाल्मीकि को केवल तपस्या के व्याघात से ही उन्होंने नहीं बचाया, पर उस ईष क्रोध रूप अपराध का मानो प्रायश्चित्त हो, इसलिए रामकथा के पद्यमय कथन का आदेश भी दे दिया। वाल्मीकि को पावन रामकथा की रचना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है तो उसी रामकथा को पढ़ने, समझने और पढ़ाने से कम-से-कम आपके-हमारे लिए इहलोक का मार्ग तो अंतिम दिन तक प्रशस्त होता रहेगा। कम-से-कम हमें इसमें कोई संदेह नहीं है। होना तो आपको भी नहीं चाहिए।

□
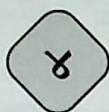
अयोध्या

भारत के तीर्थ क्षेत्रों में प्राचीन काल से जैसे काशी (वाराणसी) प्रसिद्ध और सर्वमान्य तीर्थ है, वैसे ही अयोध्या पवित्र और प्राचीन तीर्थ क्षेत्र होने की मान्यता अब तक चली आ रही है। अयोध्या नगरी का और भी अधिक महत्त्व है। वह प्रभु रामचंद्र की जन्मभूमि है। उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले के अंतर्गत आई हुई यह नगरी एक महान् क्षेत्र है। हमारी परंपरा में जिन सात पवित्र नगरियों-सप्तपुरी में सहस्रों वर्षों से जन-आस्था रही है, उनमें अयोध्या का उल्लेख सब से पहले किया जाता है। सरयू नदी के किनारे बसी यह अयोध्या! इसी सरयू में भगवान् राम ने अपनी देह का विसर्जन कर अवतार की लीला की इतिश्री की थी। स्वयं वाल्मीकि ने ही इस घटना का उल्लेख किया है अपनी 'रामायण' में। इसलिए रामभक्तों के हृदय में अयोध्या और सरयू के प्रति अगाध निष्ठा, अक्षय स्नेह निर्झर और परम आस्था होना सहज है, स्वाभाविक है। सरयू और अयोध्या उनके हृदयों में अचल महामेरू की तरह रची-बसी रहती है। अयोध्या—बल, छल, तप, त्याग या साधना द्वारा कोई उसे जीत सकता है न योध्या अयोध्या! मानव श्रेष्ठ मनु द्वारा निर्मित और लोक प्रसिद्ध महर्षि कहते हैं—

> अयोध्या नाम नगरी तत्रासी लोकविश्रुता।
> मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥ ५, ६॥

रामायण के संदर्भ बताते हैं कि प्राचीन काल में मनु के द्वारा बनाई गई इस अयोध्या नगरी का परवर्ती इक्ष्वाकुवंशीय शासकों ने पालन किया। महाराजा दशरथ ने अपने कर्तृत्व से उसे और भी अधिक समृद्ध और संपन्न बनाया। इस राजधानी का सविस्तार वर्णन करने में वाल्मीकि ने भी कोई कोताही नहीं बरती, मुक्त कंठ से उसके यश की गाथा का गान किया है।

लंबाई में अड़तालीस और चौड़ाई में बारह कोस में बसी समृद्ध और संपन्न यह

अयोध्या नगरी साफ तौर पर दिखाई देने वाली बाहरी चौड़ी सड़कों अथवा राजमार्गों से जुड़ी हुई है। नगरी के राजमार्ग पर प्रतिदिन पानी का छिड़काव होकर पुष्प और मोती बिखेरे जाने से उनकी भव्यता के कारण नगरी को एक अनोखी शोभा प्राप्त हुई है। इंद्र ने स्वर्ग में जिस तरह से अमरावती नगरी बसाई है, उसी प्रकार प्रचंड शक्ति से युक्त विशाल राज्य का पालन करते हुए राजा दशरथ ने मनु द्वारा बनाई गई इस नगरी में अधिकाधिक लोगों को बसाकर उसे और अधिक शोभायमान किया है।

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवती मुषितां सर्वशिल्पिभिः॥१०॥
सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्
उच्चाट्टालक्ष्वजवतीं शतघ्नीशव संकुलाम्॥११॥

चारों ओर से महाद्वारों से आवृत, एक-दूसरे नियमित अंतर पर बसे हुए बाजारों से संकुलित सभी प्रकार के यंत्रों और आयुधों से संपन्न, नानाविध शिल्पों में निष्णात शिल्पियों की बस्तियों से व्यावृत, चारण और भाटों (के स्तुतिपाठों) से मुखर, ध्वजाओं से सुशोभित ऊँची अट्टालिकाओं, शोभित भवनों से युक्त यह अयोध्या नगरी सैकड़ों तोपों से भरी-पूरी शोभायमान हो रही है।

इस प्रकार नगरी का वर्णन करते हुए वाल्मीकिजी आगे कहते हैं—"चारों ओर महिलाओं की नृत्यशालाओं, बाग-बगीचों और आम के पेड़ों से युक्त इस नगरी की परिधि पर चहारदीवारी खड़ी की गई है, किला और खाइयों से घिरी हुई होने से दुश्मनों के प्रवेश तो क्या, उसके पास फटकने के लिए भी सर्वथा असंभव। ऐसी यह (अमेध) नगरी है। हाथी, घोड़ों, बैल, ऊँट, गर्दभों से विपुल इस अयोध्या में कर का भुगतान करने के लिए आनेवाले अधीनस्थ शासकों की चारों ओर चहल-पहल दिखाई देती रहती है। स्थान-स्थान से आनेवाले व्यापारियों की भीड़ से भरी यह नगरी पर्वताकार वाले और रत्नजटित भव्य मंदिरों से तथा इंद्र की नगरी अमरावती की तरह महिलाओं के क्रीड़ा भवनों से सुशोभित है।

अठपैलु आकार की यह नगरी हीरे, माणिक, मोतियों जैसे बहुमूल्य रत्नों से भरे सात-सात मंजिलें भवनों से तथा श्रेष्ठ (सौंदर्य एवं गुणावती) महिलाओं के समूहों से परिपूर्ण है। शहर में इतने भवन हो गए हैं कि कहीं पर खाली जमीन नहीं दिखती है। समतल भूमि पर आबाद अयोध्या धान, चावलों तथा प्रचुर मात्रा में पैदा होने वाले गन्नों के स्वादु रस से संपृक्त है। वीणा, मृदंग, दुंदुभि और नक्कारों की ध्वनि से गुंजायमान, मानो तपस्या से सिद्ध बने व्यक्तियों को स्वर्ग में उपलब्ध होनेवाले विमान की तरह से यह नगरी सारे संसार में अनुपम, अंतर्बाह्य, सुव्यवस्थित प्रदेशों (भू-भागों) तथा उत्तम पुरुषों

से सदा व्याप्त रहती है।

अरण्य में मत्त होकर गर्जना करनेवाले व्याघ्र-सिंह और जंगली सुअरों का केवल तीक्ष्ण शस्त्रों से ही नहीं, अपितु अपने बाहु बल से वध करने में समर्थ, धनुर्विद्या में निपुण शीघ्रवेधी, छिपे हुए शत्रु पर शब्दानुसंधान से बाणवेध करना संभव है तथापि उन पर तथा युद्धभूमि से पलायन करने वाले शत्रुओं पर बाण न चलानेवाले ऐसे हजारों (अतिरथी) महारथियों से परिपूर्ण नगरी को राजा दशरथ ने और अधिक आबाद और समृद्ध किया। तात्पर्यत: आहिताग्नि (अग्निहोत्री) और वेद-वेदांग में पारंगत सत्यनिष्ठ आचरण करनेवाले महर्षिवत् ब्राह्मण तथा (अगणित) याचकों को हजारों (मुद्राएँ) दान देनेवाले क्षत्रियों-श्रेष्ठों से यह सदा ही सुशोभित रहती है। (बालकांड, सर्ग ५)

इस प्रकार रामायण में ही उपलब्ध विवरण के आधार पर तत्कालीन अयोध्या नगरी के वैभव की सहज ही कल्पना की जा सकती है। बहुत ही दूरदृष्टि से इस नगरी का निर्माण किया गया था। व्यक्तिगत और सामाजिक विकास के अवलंब विद्या, कला, क्रीड़ा, पराक्रम, दानशीलता, क्षमा, कर्तृत्व और नेतृत्व जैसे गुणों को करने के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध थीं। चौड़ी सड़कें, प्रशस्त राजमार्ग और नगरी का आकारबद्ध नियोजन वर्तमान महानगरियों से किसी भी प्रकार से कम प्रतीत नहीं होता है। महिलाओं के नृत्यशालाओं के साथ क्रीड़ा भवनों की उपलब्धता एक प्रमुख विचारणीय बिंदु है। वेदों की शिक्षा के लिए वेद पाठशालाएँ, स्वाध्यायरत तपस्वी, दानशील और पराक्रमी क्षत्रियों से ही नहीं, अपितु पुरुषों के समक्ष महिलाओं का नृत्य और क्रीड़ा-निपुण होना एक सुखद आश्चर्य से कम नहीं है। नृत्यशालाएँ ही नहीं, अपितु स्त्रियों में निहित क्रीड़ा के गुणों के विकास के लिए क्रीड़ाभवन होने का तथ्य हमारे लिए आनंददायक ही है। राजा दशरथ की दृष्टि में समाज व राष्ट्र के विकास के लिए किए गए प्रयत्न केवल लोक हितकारी थे, अपितु आगामी रामराज्य के वे आधार थे, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

□

राजा दशरथ

अयोध्या नगरी को अत्यंत समृद्ध और संपन्न बनानेवाला राजा दशरथ कितना योग्य, कर्तृत्ववान् तथा गुणशाली था। इसकी भी चर्चा महर्षि वाल्मीकि ने की है। दशरथ के साथ जुड़े हुए विशेषण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि प्रभु श्रीराम के पितृपद को गौरवान्वित करने का दशरथ का अधिकार कितना असामान्य और अतर्क्य था। इन विशेषणों पर एकबारगी ही गौर करने से हम इस बात को समझ सकते हैं—

१. वेदविद्	वेदों का ज्ञाता
२. सर्वसंग्रहः	(राज्य के लिए आवश्यक) सभी (वस्तुओं को/व्यक्तियों) का संग्रह करनेवाला
३. महातेजाः	महान् पराक्रमी
४. दीर्घदर्शी	दूरद्रष्टा
५. पौरजानपदप्रियः	लोकप्रिय
६. इक्ष्वाकुणामतिरथः	इक्ष्वाकुवंश में अतिरथी (सहस्र योद्धाओं से अकेला ही युद्ध करने में सक्षम)
७. यज्वा	यज्ञ-याग करनेवाला
८. धर्मपरः	धार्मिक, धर्मनिष्ठ (सात्त्विक वृत्तियों वाला)
९. वशी	इंद्रिय-संयम बरतनेवाला, जितेंद्रिय
१०. महर्षिकल्पः	महर्षि के समान
११. राजर्षिः त्रिषु लोकेषु विश्रुतः	त्रिलोकी में प्रसिद्ध राजर्षि
१२. बलवान्	बलशाली, समृद्ध सैन्यबल से युक्त
१३. निहतामित्र	शत्रुहंता, अमित्र अर्थात् शत्रुओं का जिसने विनाश किया हो
१४. मित्रवान्	मित्र, हितचिंतकों/हितसाधकों से युक्त

१५. विजितेन्द्रिय: — इंद्रियों पर विजय पाया हुआ

१६. धनै: सञ्चयैश्चान्यै: शक्रवैश्रवणोपम:' — धन-धान्य तथा अन्य वस्तुओं का संग्रह करने में इंद्र तथा कुबेर की समानता करने योग्य।

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥
तेन सत्याभिसन्धेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती॥

(बालकांड, सर्ग ६/४-६)

महान् तेजस्वी मनु की तरह राजा दशरथ प्रजा का परिरक्षण करते रहे। धर्म, अर्थ व काम इस त्रिवर्ग का पालन करते तथा सतत सत्य पर अडिग रहनेवाले दशरथ ने अमरावती का रक्षण करनेवाले इंद्र की तरह श्रेष्ठ अयोध्या नगरी का परिपालन किया।

यह हमें पता चलता है दशरथ के नाम से जुड़े विशेषणों से, जैसे—विजितेंद्रिय: धर्मपर: महातेजा: महर्षिकल्प: आदि ये सभी विशेषण दशरथ के मनोविकास के सूचक हैं, दीर्घदर्शी, पौरजानपदप्रिय: इक्ष्वाकुणामतिरथ: राजर्षि:, बलवान्, निहता मित्र:, मित्रवान् आदि विशेषण रजोगुण तथा उनकी व्यावहारिकता से संबद्ध हैं। सामान्यतया किसी भी राजा के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया जा सकता है, इसलिए इनमें अति विशिष्टता निहित नहीं है, किंतु राजा यदि रणबाँकुरा भी हो और जितेंद्रिय भी हो तो वह अति विशिष्ट बन जाता है और गरिमा मंडित भी। रावण, कुंभकर्ण, इंद्रजित्, कंस, शिशुपाल, जसासंध बलाढ्य थे, चँगेज खाँ, अलेक्जेंडर, मुहम्मद गोरी, औरंगजेब भी बलाढ्य थे; किंतु इनमें से जितेंद्रिय कोई भी नहीं था, बल्कि इन सभी राजा-महाराजाओं की ताकत निरीह जनता के संहार के ही काम आई, इसके विपरीत राजा दिलीप, रघु, दशरथ, महाराणा प्रताप, शालिवाहन, विक्रमादित्य, छत्रपति शिवाजी आदि बलाढ्यता उनकी जितेंद्रियता से सराबोर थी। इसीलिए इतिहास के पन्नों में अभी भी उन्हें गर्व के साथ याद किया जाता है, उनका स्थान अक्षुण्ण बना हुआ है।

जितेंद्रिय व्यक्ति ही महान् तेजस्वी हो सकता है, धर्मनिष्ठ होता है, यह तो जितेंद्रिय होने पर स्वयंसिद्ध है। किसी शासक पर अपने सैन्यबल, सामर्थ्य और संपत्ति के बल पर विजय पाना अपेक्षाकृत जितना आसान होता है, उतना चंचल और उत्पाती इंद्रियों को जीत पाना सहज नहीं है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कोई भले ही विजय पा ले, पर वह अपने मन पर भी विजय पा ही लेगा, यह जरूरी नहीं है। इसीलिए कहा गया है—'मने जीतें, जग जीतें!' सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त कोई संन्यासी या संत जितेंद्रिय हो सकता

है। क्योंकि वह अनासक्त होता है, वह संसार में रहते हुए भी संसार में नहीं रहता है; परंतु सत्ता, धन, सिंहासन, युद्ध-संधि इस प्रकार के रजोगुणी वैभव का स्वामी यदि जितेंद्रिय हो जाता है तो उसका जितेंद्रिय होना किसी योग या संन्यस्त व्यक्ति के जितेंद्रिय होने से अधिक महत्त्वपूर्ण है। संसार में दुर्लभतम है या कहिए सहस्राब्दियों में ही कभी ऐसा संभव हो पाता है। पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाले किसी संन्यस्त व्यक्ति के लिए विषयों में आसक्त न होना अलग बात है और आठों ही पहर पत्नियों, सेविकाओं और गान-नृत्य करनेवाली पेशेवर महिलाओं से घिरे रहने पर भी अनासक्त या निर्लिप्त रहना अलग महत्त्वपूर्ण बात है। यदि राजा दशरथ जितेंद्रिय नहीं होते, धर्मनिष्ठ नहीं होते, तेजस्वी नहीं होते तो कैकेयी को दिए हुए वचनों की पालन कदाचित् न करते और वह शासकों के लिए एक आम बात मानी जाती। इस तथ्य को हमें ध्यान में रखना आवश्यक है।

कैकेयी ने दो वरदान माँगे थे, तब दशरथ अयोध्या के शासक थे, सत्ता और साधनों से संपन्न थे। ऐसी स्थिति में वे मना भी कर सकते थे और उनकी राजसभा या परिवार का सदस्य इस संबंध में किसी तरह की टिप्पणी भी करने की हिमाकत नहीं कर पाता। पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर वे रामचंद्र प्रभु का राज्याभिषेक संपन्न करवा ही सकते थे; परंतु वे 'वशी' थे, इसलिए पुत्र प्रेम की खातिर अपने दिए वचनों से मुकर पाना उनके लिए संभव नहीं था। पर किसी के भय के कारण नहीं। क्या वे कुलगुरु वसिष्ठ या कैकेयी या प्रजा से भयभीत हो गए थे? यह तो असंभव था। यदि उन्हें कोई भय था तो वह सत्य से था। जितेंद्रिय, धर्मनिष्ठ और वशी व्यक्ति ही सत्य की रक्षा कर सकता है, वह सत्यवादी ही नहीं, सत्य का पालनहार हो सकता है। कैकेयी को दिए गए वचन परमप्रिय पुत्र के हित के लिए असत्य सिद्ध हो जाएँ ऐसी कल्पना भी दशरथ के मन में नहीं आ पाई। पूर्व में वर माँगने की कैकेयी को दी गई स्वतंत्रता को दशरथ ने नकारा नहीं। जिसका राज्याभिषेक किया जाना तय हो गया है, उस राम को ही चौदह वर्षों के लिए अरण्यवास कैकेयी प्रथम वरदान के रूप में माँग लेती है। इस माँग को पूरा करने में असमर्थता जताकर दशरथ अन्य कोई प्रलोभन दे सकते थे। परंतु कैकेयी को दिए वचन की सत्यनिष्ठा को दशरथ ने यत्किंचित् भी डिगने नहीं दिया। इतना ही नहीं, वचन की रक्षा के लिए, सत्यनिष्ठा से उसने राम के वियोग के दुःख को ही नहीं, अपनी मृत्यु को भी गले लगाया। अन्य कोई रजोगुणी शासक ऐसा नहीं कर सकता था। सत्ता के लिए दिए गए संघर्षों से दुनिया का इतिहास भरा पड़ा है। ऐसा अभूतपूर्व ही क्या 'न भूतो न भविष्यति' निर्णय दशरथ ही ले सकते थे, जिनके साथ आदर्श कुल-परंपरा, रघु और दिलीप जैसे तपस्वी पूर्वजों की परंपरा जन्म से ही जुड़ी हुई थी। अपनी सात्त्विक मानसिकता और भौतिक साधनों से दशरथ ने अपनी कुल कीर्ति की पताका को दिगंत में फहराया था। यह तथ्य भी उस

सत्यनिष्ठा के मूल में रहा है, इसे हमें भूलना नहीं चाहिए।

मनु के द्वारा स्थापित, समृद्ध की गई अयोध्या नगरी की कीर्ति को दशरथ ने और अधिक संपन्न ही नहीं किया, अपितु अपने जितेंद्रियत्व से भगवान् राम के पितृपद की प्रतिष्ठा को भी वृद्धिंगत किया। जितेंद्रिय, वशी, सत्यवादी, सत्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ साथ ही कुशल शासक के रूप में दशरथ का नेतृत्व पाना अयोध्या की प्रजा के लिए महज भाग्य सिद्ध हुआ। राजसिंहासन पर बैठे व्यक्ति का नेतृत्व कैसा है? उसका चरित्र व्यवहार व नैतिकता किस स्तर की है? इस प्रकार की बातें ही किसी राज्य की प्रजा का स्तर तय करती हैं। नेतृत्व ही यदि कमजोर हुआ तो प्रजा स्तरीय कैसे होगी? राजा, सरदार, ठाकुर या लोकतंत्र में लोक नेता के निर्देशन से अथवा उसका अनुकरण करते हुए समाज में सभी प्रकार का व्यवहार होता है, आचार-विचार भी वही हो जाता है जो नेता दिखाएँ। नेतृत्व यदि नीतिभ्रष्ट हुआ, भ्रष्टाचारी, रिश्वतखोर, भाई-भतीजावाद को पनपाने वाला हुआ तो प्रजाजनों से उदार नैतिकता और आचरण की शुद्धता की कैसे अपेक्षा की जा सकती है! धन-लोलुप और रिश्वतखोर सत्ताधारियों के राज्य में प्रजा 'धन-निरपेक्ष' अथवा निर्लिप्त कैसे हो सकती है? इसलिए राजा या शासक में भले ही दशरथ की तरह सभी गुण न हों, उसका चरित्र तो सोलह आने आदर्श होना चाहिए। नेता तो नीतिवान् ही चाहिए, जो नीति सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ा जनहित के कार्यों में लगा रहे और लोगों को भी उसी मार्ग पर प्रेरित करे, उसकी ही नेता के रूप में सही पहचान हो सकती है। सहकारी खेती की तरह सहकारिता से चरित्र की खेती कर घर-घर में सच्चारित्र्य की लहलहानेवाली फसल पैदा नहीं की जा सकती है। यह बात हरेक को ठीक तरह से समझ लेनी चाहिए।

राजा दशरथ को स्त्री लंपट या एक मराठी नाट्यगीत में कहे गए, 'मैं तुम्हारा धनदास' (स्त्रीरूपी संपत्ति का दास) की तरह स्त्रीदास कह देना बहुत आसान है। उसके लिए रामायण पढ़ने या उस पर चिंतन करने की कतई जरूरत नहीं है, परंतु दशरथ के चारित्र्य की समीक्षा के लिए केवल हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का अभिमान होना ही काफी नहीं है तो एक महत्त्वपूर्ण जीवन-मूल्य के रूप में चरित्र के प्रति हमारी अगाध और अटूट निष्ठा भी होनी चाहिए, श्रद्धा होनी चाहिए, तभी उसके मूल्य का ज्ञान हो सकता है। इसीलिए कहा है—श्रद्धावां लभते ज्ञानम्।

□

गुणवान् अमात्य

महर्षि वाल्मीकि ने राजा दशरथ के लिए इतने विविध विशेषणों का प्रयोग किया है कि उनसे महर्षि को हुए आनंद की हम कल्पना कर सकते हैं। सामान्यत: प्राचीन काव्यों या महाकाव्यों में चरित्र-नायक के लिए कवि के द्वारा अनेक विशेषणों की माला ही गूँथ देने की परंपरा रही है। कवियों की वैसी ही वर्णन-शैली बन गई और वह प्रतिष्ठित भी हो गई थी। 'लघुसंदेशपदासरस्वती' अर्थात् 'गागर में सागर' की शैली के धनी, भारवि जैसे कवि (भी) परवर्ती काल में यद्यपि प्रतिष्ठित हो गए थे तथापि बिना अतिशयोक्ति अलंकार के किसी नृपति या चरित्र नायक का वर्णन प्राय: काव्यों या महाकाव्यों में नहीं मिलता है, यह तथ्य निर्विवाद रूप से सत्य है। निस्संदेह! परंतु वाल्मीकि की स्थिति दूसरी है। उनके सामने पूर्व प्रचलित कोई आदर्श नहीं थे, कोई परंपरा नहीं थी, न ही उन्हें किसी का अनुकरण करना था। पहला श्लोक उन्होंने ही बनाया था—मा निषाद! इसलिए किसी कवि या रचना का वाल्मीकि पर कोई प्रभाव या छाया रही हो ऐसा कोई नहीं कह सकता। ऐसी स्थिति में विविध विशेषणों द्वारा दशरथ का चरित्र रेखांकित करने में वाल्मीकि धन्य-धन्य हुए दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन में भी कोई संकेत अवश्य छिपे हुए हैं।

अयोध्या नगरी के शासक राजा दशरथ जब सत्यवादी और जितेंद्रिय हैं तो उनकी प्रजा कैसी रही होगी, यह बताने की भी कोई जरूरत नहीं रह पाती है। यदि शासक अथवा नेता गुण-संपन्न, धीरोदात्त और सामाजिक नीतिमूल्यों की रक्षा करने वाला है तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से उसके अनुयायियों पर होता ही है। इस बात के लिए ज्ञात इतिहास से अनेक प्रमाण जुटाए जा सकते हैं। प्रसिद्ध है—राजा कालस्य कारणम् और यही प्रमाणित सत्य है। काल को अनुकूल या प्रतिकूल बनाने में नेता या शासक ही समर्थ होता है। काल को अनुकूल बनाने में समर्थ राजा दशरथ जब अयोध्या में राज कर रहे थे तो उनके सलाहकार या सहयोगी कौन थे? उनकी क्या योग्यता थी? उनके क्या नाम

थे ? उनके अधिकार और कर्तव्य, उनका कर्तृत्व, जनता में उनके विषय में व्याप्त धारणाएँ तथा प्रशासन के अधिकारियों के जनमानस में व्याप्त आदरयुक्त भय आदि सभी मुद्दों पर महाकवि वाल्मीकि ने अपने काव्य में विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।

'राजराज्य' कोरी संकल्पना (Concept) मात्र नहीं है। इस प्रकार की राज्य की प्रशासन व्यवस्था भगवान् राम के पहले भी अस्तित्व में थी। दिलीप, रघु या दशरथ जनकल्याण करने में कुशल शासक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। इनके पुण्य के फलस्वरूप प्रभु रामचंद्रजी को जन्म के समय से लोकप्रियता प्राप्त हुई और उन्हीं के हाथों रावण तथा उसके सारे साम्राज्य का विनाश होने से अयोध्या की राज्य-व्यवस्था को सम्मानपूर्ण 'रामराज्य' की उपाधि प्राप्त हुई। तब से आज तक जनसामान्य की नजरें उस आदर्श रामराज्य पर टिकी हुई हैं। रामराज्य में प्रजा के रूप में जीवन-यापन का अनुभव न होने पर भी यदि जनता का मन उसके प्रति अत्यंत आदर और आकर्षण आज तक बना हुआ है तो वह रामराज्य की सार्वकालिक विजय का द्योतक है और साथ में, 'हम उस रामराज्य से वंचित हैं,' यह कमी भी उस आकर्षण में विद्यमान है, इस तथ्य से कौन, कैसे मुकर सकता है ?

इसीलिए केवल शासक या नेता का गुणवान्, नीतिमान् और कर्तृत्व-संपन्न होने मात्र से ही काम नहीं चलता है, अपितु उसके सहयोगी अमात्य, सचिव और अन्य अधिकारी तथा उनके द्वारा किया जा रहा प्रशासन नैतिकता के आधार पर प्रतिष्ठित होने की आवश्यकता रहती है। छत्रपति शिवाजी को बचपन में ही अपनी माँ साहिबा जिजाऊ से रामायण-महाभारत की रोचक कहानियाँ सुनने को मिली थीं। पिछले ३-४ सौ वर्षों में कई लोगों ने अनेकानेक भाषाओं और बोलियों में ये कहानियाँ सुनी-सुनाई होंगी, परंतु छत्रपति शिवाजी ही रामायण के रामराज्य को समझ पाए! रामायण में दर्शित माता-पिता व गुरु के प्रति भक्ति और आदर, त्याग और नीतिमत्ता, सावधानता, संधि-विग्रह, प्रजाहित में दक्षता, राज्य-प्रशासन व प्रजा की परस्पर कल्याणकारी भूमिका ने उन्हें प्रभावित किया। उसी से प्रेरणा लेकर छत्रपति शिवाजी ने 'हिंदवी स्वराज्य' प्रतिष्ठित किया। 'रामराज्य' स्वराज्य का अधिष्ठा न था, आदर्श था और दशरथ की अमात्य-व्यवस्था को छत्रपति ने आदर्श प्रशासन व्यवस्था के रूप में अपनाया। शिवाजी के अष्ट प्रधान मंडल में दशरथ की अमात्य संस्था प्रतिबिंबित हुई। महाराजा दशरथ की अमात्य-व्यवस्था को वाल्मीकि ने ऐसे संकेतित किया है—

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥

(बालकांड, सर्ग-७)

ये अमात्य हुए—धृष्टि, जयंत, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमंत्र।

देखिए नाम भी कितने सार्थक हैं! वाल्मीकि ने इन अमात्यों का गुण-वर्णन करने में ही सातवें सर्ग में १३ श्लोकों (७-१९) की रचना की है। इन विशेषणों का अवलोकन करने से हमें यह लगने लगता है कि ऐसे गुणवान् अमात्य जिस शासक को मिले हों, वह दशरथ कितने सौभाग्यशाली रहे होंगे! इन अमात्यों के विशेषणों पर एक दृष्टि डालने से ही यह प्रतीत होगा कि अमात्यों की कितनी उच्चस्तरीय योग्यता थी और वे किस हद तक जनता-जनार्दन का हित साधने में तत्पर थे, निष्ठावान् थे।

ज्ञान और नम्रता से युक्त, इज्जतदार, राजकाज में कुशल, जितेंद्रिय, वैभवशाली, उदारमना, शस्त्रविद्या में प्रवीण, युद्ध में निश्चय पराक्रम करनेवाले, यशवंत, दक्ष, राजाज्ञा के अनुसार आचरण करनेवाले, तेज, कांति और यश से संपन्न, बोलते समय स्मितहास्य बिखेरने वाले, काम, क्रोध अथवा द्रव्य के लोभ में कभी भी असत्य भाषण न करनेवाले, गुप्तचरों के सहयोग अपने व मित्र तथा शत्रुओं में होनेवाली घटनाओं का ब्योरा रखनेवाले, व्यवहारकुशल, राजा की कसौटी पर हमेशा खरे उतरनेवाले, समय पड़ने पर अपने पुत्रों को भी दंडित करनेवाले, राजकोष व सेना के संग्रह में तत्पर, अपराध न किए गए शत्रु का (हथियार से) स्पर्श भी न करनेवाले, पराक्रमी एवं उत्साही, अपने राज्य में सदाचरण रखनेवाले सज्जनों की नित्य रक्षा करनेवाले, अपराधी को (अपराध सिद्ध होने पर) सख्त सजा देने वाले, अपराधी की शक्ति के अनुसार दंड देने वाले, प्रजा को (अधिक कराधान से) कुछ न देते हुए राजकोष को समृद्ध करनेवाले, शुद्ध (निर्दोष) आचरण से युक्त, आठों ही अमात्य सर्वसहमति से कार्य करनेवाले, राजधानी और देश में किसी भी व्यक्ति के असत्यवादी न होने के बाबत निश्चयशील, उज्ज्वल और उत्तम वेषधारी, राजहित के प्रति सतत जाग्रत् रहनेवाले, राजा और गुरुओं की दृष्टि में गुणवान् के रूप में मान्यता प्राप्त, अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध, प्रत्येक मसले पर निस्संशयात्मक या निश्चयात्मक बुद्धि रखनेवाले और इसीलिए अन्य राष्ट्रों में भी यशस्वी, गुणों की सतत हिफाजत करनेवाले, संधि-विग्रह के रहस्यों के ज्ञाता, सत्त्व, रज और तम, तीनों गुणों की संपत्ति से युक्त, सलाह-मशवरे को अत्यंत गोपनीय रखने में दक्ष, किसी भी विषय में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने में समर्थ, नीतिशास्त्र के जानकार तथा हमेशा प्रिय संभाषण करनेवाले तथा (ऐसे ही अनेक) उत्तम गुणों से अलंकृत; ये आठ अमात्य दशरथ की राजसभा के अलंकार थे।

इतने अत्यधिक गुणों से संपन्न, एक-दो नहीं, पूरे आठ अमात्यों की मंडली जिस किसी भी राजा की सेवा में प्रशासन और प्रजानुरंजन के लिए हो, वह शासक स्वयं उसकी प्रजा और उसका समस्त राज्य कितना सौभाग्यशाली रहा होगा, इस बारे में पाठकों को

सोचना चाहिए। नेतृत्व समर्थ होने पर भी यदि गुणवान् मंत्री और अधिकारी सहयोग के लिए न हों तो वह कैसा पंगु बन सकता है, इसकी कल्पना की जा सकती है। इसलिए रामराज्य की धारणा कितनी भी उदात्त और लोकहितकारी क्यों न हो, उसे लागू करनेवाले, व्यावहारिक रूप देनेवाले शासक और उनके सहयोगी भी उतनी योग्यता वाले तथा चारित्र्य-संपन्न होने ही चाहिए। यह बात हर काल के परिप्रेक्ष्य में हमें ध्यान में रखनी होगी।

□

ऋषिसत्ता की श्रेष्ठता

राजा दशरथ के आठों ही अमात्य गुणवान तथा अच्छे चरित्र के धनी थे, यह बात राजा और प्रजा दोनों के लिए हितावह थी, पर रामराज्य के सिंहासन पर बैठनेवाले शासक कितने ही सत्यवादी और जितेंद्रिय क्यों न हों, थे तो आखिर शरीरधारी मनुष्य ही न? समस्त राज्य अथवा साम्राज्य पर निर्बाध प्रशासन करनेवाले शासक भले ही गुणशाली और सच्चरित्र अमात्यों के सहयोग से कामकाज चलाते हों, वे अमात्य भी आखिर उस राजा के नौकर या दास ही तो थे। राजा के आदेशों की अनुपालना करना, राजाज्ञा के अनुसार कायदे-कानून लागू हो रहे या नहीं, इसकी देखरेख करना, प्रजा के हित में तत्पर रहते हुए निर्णय लेना, न्याय की प्रतिष्ठा बढ़ाना व स्वयं के आचरण को आदर्श बनाए रखते हुए राज्य को वैभव-संपन्न बनाना आदि कार्य अमात्य करते रहते थे; परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि समय पड़ने पर वे राजा को खरी-खरी बातें सुनाते या सुना सकते थे या राजा के आदेशों की अवहेलना कर उसका अपमान करने से भी नहीं कतराते थे। वस्तुतः असीमित शक्तियों से संपन्न किसी भी शासक के अमात्य व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में अपने व्यवहार में कभी भी मर्यादाहीन या अनियंत्रित नहीं थे, परंतु कभी कभार मोहवश राजा के हाथ से कोई गलती या प्रमाद हो जाए तो उसे सबक सिखाकर राजकर्तव्य क्या व कैसे करने हैं, यह नसीहत देने का अधिकार दशरथ के समय में किसे था? उसके आठों या किसी एक अमात्य को यह अधिकार नहीं था, हो भी नहीं सकता था। तो फिर प्रथितयश रघुकुल के राजा और राज्य के संविधान पर ऐसा नियमन या नियंत्रण करने के लिए क्या व्यवस्था की गई थी। ऐसी कौन सी शक्ति थी या कैसी व्यवस्था थी, जिसने रघुकुल के शासकों को रामराज्य का शिल्पकार बनाया? ऐसी शक्ति, ऐसा अधिकार तपोवन में रहनेवाले तपस्वी ऋषियों की मंडली को था! शासक की अनुचित प्रवृत्तियों को रोकना। सत्य, धर्म और सदाचरण की रक्षा के लिए राजा को कड़े शब्दों में आदेश देना! तपस्वी ही यह काम करने के अधिकारी थे।

'ऋषियों का मंत्रिमंडल' यह शब्द प्रयोग आज के पाठक के लिए अचकचा लगने वाला है, परंतु सबसे बढ़िया प्रशासन का रहस्य पारदर्शी नीतिमत्ता है। यह तथ्य प्राचीन समाज के शीर्षस्थ व्यक्तियों ने पहचान लिया था। त्रेता युग की सात्त्विकता के मूल में ऋषि का मंत्रित्व ही था। यह सात्त्विकता या सत्त्ववृत्ति परवर्ती द्वापर युग में क्षीण से क्षीणतर होती गई, रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियाँ प्रबल हुईं और परिणामत: सर्वविनाश का महाभारत का युद्ध हुआ। वर्तमान में अर्थात् कलयुग में वह सात्त्विक वृत्ति राजसी और तामसी वृत्तियों के प्रवाह में बहती हुई मानो अपने अस्तित्व के लिए आखिरी हिचकियाँ ले रही दिखाई देती है। इसलिए आज कोई भी राष्ट्र हो, कैसी भी राज्य-व्यवस्था हो, कैसा भी प्रशासन हो, कलियुग का जनमानस (सत्त्व वृत्ति की दृष्टि से) अंदर से एकदम खोखला हो गया है और सत्त्व गुण के अस्तित्व के लिए संघर्ष करने वाले, वे सत्त्वशूर जो अंतस्त: खोखले नहीं हुए हैं, अपना जीवन दाँव पर लगाकर लगभग आखिरी साँसें लेते हुए हाँफ रहे हैं। इसलिए त्रेतायुग अथवा रामराज्य जैसी राज्य व्यवस्था के ऋषिमंडल की कलयुग के 'मंत्रिमंडल' से और उन तपस्वी, सत्त्वशील ऋषियों की आज के मंत्रियों से तुलना करने/होने की किसी संभावना का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता है।

राजा दशरथ का ऋषिमंडल कैसा था? उसमें कौन-कौन से और कितने मंत्री थे? कार्य विभाजन कैसा था? इसका ब्योरा वाल्मीकि के ही शब्दों में देखिए, बालकांड के सातवें सर्ग में—

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ, तस्थास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठौ वामदेवस्य मन्त्रिणश्च तथापरे॥४॥
सुयज्ञोऽप्यथ जाबालि: काश्यपोऽप्यथगौतम:।
मार्कंडेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विज:॥५॥

वसिष्ठ और वामदेव ये दो श्रेष्ठ ऋषि दशरथ के ऋत्विक थे तथा सुयज्ञ जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कंडेय और कात्यायन उसके मंत्री थे।

अमात्य-मंडल की तरह राजा दशरथ का यह ऋषिमंडल भी आठ सदस्यों का ही है। वसिष्ठ और वामदेव तत्कालीन ऋषियों श्रेष्ठ, सर्वमान्य तथा असामान्य आध्यात्मिक साधना से प्राप्त अधिकार संपन्न पुरुष थे। सुदीर्घ तपश्चरण, अपूर्व तेजस्वी, मूर्तिमान् साक्षात् वैराग्य और परम ज्ञानी ऐसे ये दो ऋषि-श्रेष्ठ दशरथ के मार्गदर्शक ही थे, शेष छह ऋषि राजा की विचारशीलता के मार्ग को प्रशस्त करते थे। राजा को सही मायने में राष्ट्र-रक्षण, प्रजा-पालन, न्याय के निर्णय में निष्पक्षता, शत्रु-संहार, अपार दातृत्व, संत-महंत, गुरुजनों का उचित आदर-सत्कार करते राजकाज करना है तो झूठ-मूठ की स्तुति करने वाले चारण-भाटों और घमंडी चाटुकारों की धूर्त-मंडली से दूरी बनाए रखनी पड़ती है।

खुशामद करनेवाले अपने मन में बड़ी-बड़ी चाहत रखकर रुचिकर बातें कहते ही रहते हैं। इसका अत्यंत दक्षता से नेताओं या राज्य करनेवालों को ध्यान रखना पड़ता है। कोई स्तुतिप्रिय शासक या नेता जब इस बात को भूलने लगता है तब राज्य-व्यवस्था और प्रशासन का उच्च स्तर धीरे-धीरे घटने लगता है। धूर्त, चाटुकारों और धोखेबाज कार्यकर्ताओं से घिर जाने पर सत्ता के लिए रस्साकशी का खेल शुरू हो जाता, राज्य को अपूरणीय क्षति के आघात सहन करने पड़ते हैं, जनमानस संदेह की स्थिति में फँस जाता है तब बुद्धिमान और विचारशील व्यक्ति कुछ भी नहीं कर पाते, कोरे मूकदर्शक बनकर अफसोस करने लगते हैं। चाटुकारों द्वारा की जा रही स्तुतियों के तीव्रतम स्वरों में रामराज्य की संकल्पना के स्वरों की कोमलता खो जाती है। सामान्यत: हर राज्य-व्यवस्था या प्रशासन के इर्द-गिर्द स्वार्थी, अवसरवादी जरूरतमंद लोगों का जमावड़ा अपने प्रभाव को बढ़ाने में लगा रहता है। यह बात राजनीति ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों पर लागू होती है। इसको राजनेताओं और सभी क्षेत्रों के शीर्षस्थ व्यक्तियों को स्मरण रखना चाहिए, परंतु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो पाता है और रामराज्य स्वप्न मृगमरीचिका बनकर रह जाता है। स्वयं गुणवान दशरथ का यह अहोभाग्य ही था कि कुलगुरु वसिष्ठ और ऋषि वामदेव उसके नियंत्रक थे। इसलिए राजसी प्रभाव में रहते हुए भी राजा दशरथ की राजनीति, धर्मनीति और प्रजापालन-प्रशासन का नियमन इस ऋषिमंडल को ही करना होता था। कभी-कभार राजा से कोई प्रमाद होने की संभावना हो या वह प्रमादी हो जाए तो उसे रोकने या प्रमाद होने पर उसकी गलती का अहसास कराने का कठोर कार्य यह ऋषिमंडल ही किया करता था।

महर्षि वसिष्ठ रघुकुल के उपाध्याय, कुलगुरु ही थे, इसलिए दशरथ की राजसभा में उनका वचन किसी विषय में अंतिम निर्णय होता था। कभी राजा दशरथ की इच्छा के विरुद्ध कठोर निर्णय भी उन्हें ही देना होता था। एक बार महर्षि विश्वामित्र दशरथ से मिलने आए थे, वे क्यों आए थे, क्या काम था, इसकी सामान्य रूप से पूछताछ किए बिना ही दशरथ उन्हें जो मन आए, आश्वासन देते रहे। दशरथ राजा की ओर से दिए जा रहे भौतिक ऐश्वर्य को नकारते हुए राक्षसों से यज्ञों की रक्षा के लिए केवल राम की ही माँग सामने रखी। उसे सुनते ही पुत्रमोह में फँसे दशरथ को बड़ा आघात लगा और अपने द्वारा दिए गए सभी आश्वासनों को दरकिनार करते हुए 'राम बच्चा है' यह बहाना बनाते हुए दशरथ कहने लगे—

बालं मे तनयं ब्रह्मन नैव दास्यामि पुत्रकम्।

'हे ब्राह्मन्! राम तो अभी बच्चा है। उसे नहीं देंगे।' सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध रघुवंश के कुलदीप, सत्यवचनी दशरथ सिंहासन पर बैठे अपने घर आए विश्वामित्र को

दिए वचन का भंग कर राम को सौंपने में टाल-मटोल कर रहे हैं यह देखकर राजसभा में अपने आसन पर विराजित कुलगुरु वसिष्ठ उठ खड़े हुए, राजा को राज-कर्तव्य और वचन की पालना के लिए कठोरता से नसीहत दी, आदेश ही था वह—

न धर्मं हातुमर्हसि! न अधर्मं वोढुमर्हसि। तस्मात् रामं विसर्जय।

आपके लिए धर्म को छोड़ना उचित नहीं। अधर्म का अनुसरण आप करें, इसीलिए राम को (विश्वामित्र को) सौंप दीजिए। यह नसीहत देकर राजसत्ता के विरोध में अपना निर्णय सुना दिया। सत्यवचनी दशरथ का पुत्रमोह में वचन भंग हो रहा था, वसिष्ठ ने सत्य की प्रतिष्ठा बनाए रखी और विश्वामित्र को भी प्रसन्न किया। इस तरह राजसत्ता से जब ऋषिसत्ता की श्रेष्ठता बनी रहेगी तभी राम राज्य आएगा, प्रजा सुखी होगी।

□

८
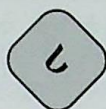
धर्मसमृद्ध प्रजा

राजा दशरथ का शासकीय काल रघुवंश की प्रतिष्ठित परंपरा के अनुसार ही बीत रहा था। केवल उन्हीं के समय में ही नहीं, अपितु उनके पूर्ववर्ती शासकों के समय में प्रजा का हाल-हवाल कैसा था? अयोध्या के सत्ताधीश सत्यनिष्ठ, लेकिन उनकी प्रजा असत्य को चाहनेवाली तो नहीं थी? सत्यनिष्ठ शासक, अत्यंत उत्तरदायी मंत्रिमंडल और इन पर नियंत्रण करनेवाले श्रेष्ठ ऋषियों का मंडल, इतनी सारी व्यवस्था होने पर भी अयोध्या की प्रजा भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी के कीचड़ में लिप्त और सत्य-अनीति की बीमारी से ग्रसित तो नहीं थी? महर्षि वाल्मीकि ने अयोध्या की प्रजा को किस रूप में देखा? रघुवंश के शासक सत्ताधीश होने पर भी सत्य के निष्ठावान् उपासक और न्याय-नीति के मानो आदर्श मानदंड थे। इसलिए नेताओं के धर्माचरण और व्यवहार का, उनकी स्थितप्रज्ञ या तटस्थवृत्ति का प्रभाव दशरथ के प्रजाजनों पर न पड़ता तो ही आश्चर्य की बात थी।

हिमालय से निकलने वाली नदियों का प्रवाह जिस प्रकार तीव्र गति से हमेशा समुद्र की ओर बढ़ता रहता है, उसी प्रकार राजसत्ता और सत्ताधीशों का नेतृत्व होता है। सत्ताधीश किन-किन पूर्ववर्ती भव्य और दिव्य परंपराओं की आधारशिला पर खड़े हैं। यह बात जैसे महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार समसामयिक नेतृत्व उस परंपरा की श्रीवृद्धि करने वाला प्रतिष्ठावर्धिष्णु है या नहीं, यह बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है। सामान्य नागर-जन अपने नेतृत्व को ही आदर्श मानता आ रहा है और प्रधानमंत्री, राजा, सम्राट् या राष्ट्राध्यक्ष से उसे बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ रहती हैं; लेकिन समाज और राष्ट्र के अग्रणी यदि भ्रष्ट हैं, अन्याय करनेवाले, अनीति और अत्याचार के सहारे यदि राजकार्य करते हैं, तब प्रजा समाज के नीति मूल्यों पर से प्रजा का विश्वास डिगने लगता है, वह हताश हो जाया करती है। पथभ्रष्ट हो जाती है। परंतु सौभाग्य से रघुवंश में एक से बढ़कर एक शासक मिले और इसीलिए प्रजा भी योग्य थी, उसकी योग्यता भी बढ़ती रही इन सारी बातों का

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में खुलासा किया है।

बालकांड के छठे सर्ग में वाल्मीकि ने अयोध्या की सत्त्वगुणी, सद्गुणी प्रजा का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। प्रजाजनों का वर्णन करते हुए आदिकवि द्वारा काम में लिया गया विशेषण बहुमूल्य है। हमें और आपको आत्माभिमुख होकर उन्हें समझना होगा और यह देखना होगा कि क्या उन विशेषणों के आस-पास भी हम पहुँच पाए हैं या नहीं ? इस दिशा में गंभीर चिंतन की अपेक्षा करना व्यर्थ नहीं होगा।

> तस्मिन पुरवरे दृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
> नराः तुष्टाः धनैः स्वै स्वैः अलुब्धा सत्यवादिनः॥

(सर्ग ६/६)

अर्थात् उस श्रेष्ठ राजधानी के निवासी प्रसन्न, धर्माचरणशील, बहुश्रुत (कई विषयों के ज्ञाता), अपने पास के द्रव्य से संतुष्ट रहनेवाले, लोभरहित तथा सत्यवचनी थे।

राजा दशरथ स्वयं धर्मनिष्ठ, सत्यवादी और अन्य सभी सद्गुणों से संपन्न होने से जाने-अनजाने प्रजा भी उससे प्रभावित हुई और बिना राजदंड के भय या प्रयोग के या राजाज्ञा का किसी भी तरह का डंका बजाए बिना या बिना किसी प्रलोभन के प्रजाजन भी सहजता से धर्म का पालन करते हुए सदाचरणशील हो गए। स्वयं राजा लोभी, द्रव्य का भूखा नहीं होने से प्रजाजन भी लोभ से होनेवाली विकृतियों के शिकार नहीं हो पाए थे। धर्माचरण से उनका मन शुद्ध तो था ही, परंतु उनका निरोगी और आनंद में रहना मुख्य बात थी। स्वभाव धर्मनिष्ठ होने पर सहज ही मनुष्य में नम्रता आ जाती है। विनम्र होने पर जानकार और अपने से आयु, विद्या, बल और यश में वरिष्ठ समझे जानेवाले व्यक्तियों की हितकारी दो बातें सुनने की क्षमता व्यक्ति में पैदा होती है। श्रवण-क्षमता से मनुष्य बहुश्रुत होता है, जो समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ संवाद स्थापित कर उसे बढ़ा सकता है। लोगों को जोड़ने का, लोकसंग्रह का 'परस्पर संवाद' बहुत बड़ा आधार है। इसीलिए मनुष्य के अंतर्बाह्य विकास की दृष्टि से इस 'श्रवण प्रक्रिया' को प्रथम स्थान दिया जाता रहा है।

यदि मनुष्य धर्मनिष्ठ होकर बहुश्रुत हो जाता है तो शाश्वत चिरंतन क्या है और अशाश्वत-अस्थायी क्या-क्या है, इसे वह समझ पाता है। लौकिक धन-संपदा, धन, खेत, मकान ये सारी भौतिक चीजें अशाश्वत या नश्वर हैं, यह समझ में आने पर अपने पास के स्वल्प धन से भी मनुष्य संतुष्ट या खुश रह सकता है, परंतु यह बात जिनके समझ में नहीं आ पाती है, वे प्रचुर ऐश्वर्य में आकंठ स्नात होने पर अप्रसन्न, असंतुष्ट, अतृप्त ही रहते हैं। संपत्ति पर उनकी गिद्ध नजरें टिकी रहती हैं, जिसके मूल में अधर्म का अनुसरण, अनुचित मार्गों से पैसा कमाने या संपत्ति हड़पने की प्रवृत्ति, विनम्र भाव का

सर्वथा अभाव तथा निरुद्देश्य या ध्येयशून्य जीवन है। दशरथ के शासन में अयोध्या के नागरिक केवल संतुष्ट ही नहीं थे, निर्लोभी थे, लालच उन्हें स्पर्श नहीं कर पाई थी। ऐसे गुणों के कारण अयोध्या के राज्य की प्रजा का सत्यवादी होना लाजमी था। सत्यवचनी रघुवंशी राजाओं के प्रजाजन भी सत्यवादी ही थे। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता—

नाल्पसंनिचयः कश्चित् आसीत्तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽ गवाश्वधनधान्यवान्॥

(सर्ग ६/७)

उस श्रेष्ठ अयोध्या नगरी में ऐसा कोई भी अल्पसंचयी गृहस्थ नहीं था, जिसे ऐहिक और पारलौकिक फल प्राप्त न हुआ हो तथा अश्व, गायों तथा धन-धान्य से समृद्ध न हो।

महर्षि वाल्मीकि यहाँ पर यह बता रहे हैं कि राजा दशरथ के प्रजाजन सभी प्रकार से कैसे समृद्ध थे। हमेशा जितना आवश्यक है उतना ही धन या संपत्ति का संग्रह करना हितकारक होता है। अपनी योग्यता व जरूरत से ज्यादा धन इकट्ठा करने से कोई व्यक्ति दानवीर होगा, यह कोई जरूरी नहीं है। इसके विपरीत, अयोग्य व्यक्ति के पास उसकी आवश्यकता से अधिक पूँजी जमा होने पर वह अच्छे कार्यों में परोपकार में खर्च होगी ही ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता, कोई गारंटी-वारंटी नहीं दी जा सकती। पुरुष पुरातन की वधू, लक्ष्मी कितनी चंचल होती है आप जानते हैं। बिना किसी उद्देश्य के उसे अपने पास बनाए रखने की कोशिश में वह बीसों रास्तों से बड़ी त्वरा के साथ निकल जाती है। इसीलिए बुद्धिमान् जानकार व्यक्ति के लिए हमारी परंपराएँ संकेत करती हैं कि जितनी जरूरत है उतना ही संचय करें। जरूरत से अधिक संग्रह होने पर उसकी सुरक्षा और साज-सँभाल में ही अपनी आधे से अधिक शक्ति का व्यय होता है; चोर, उचक्कों और लुटेरों के डर से आँखों से नींद गायब हो जाती है। पैसे का स्पर्श भी न करनेवाले त्यागी-तपस्वियों, असल साधु-संतों की शारीरिक और मानसिक क्षमता इसीलिए अरब-खरबपतियों से अधिक हुआ करती है। हमें इसलिए अल्पसंचयी और संतोषी रहना चाहिए, यह सीख मानो रामायण का हर नागरिक हमें देना चाहता है। धर्माचरण को एक परम कर्तव्य के रूप में अपनाने पर लौकिक वैभव और यश के साथ मनुष्य को परलोक का फल भी मिलता है। घर में धन-धान्य, पशुधन हुए बगैर गृहस्थ जीवन सुखी नहीं हो सकता, पर सुख के लिए संतोष चाहिए। रघुवंश के प्रजाजन अपनी धर्मनिष्ठा के कारण ही लौकिक दृष्टि से भी समृद्ध थे। महाराजा रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठकर विविध व्यंजनों का उपभोग कर रहे हैं और उनकी प्रजा कड़ी दोपहर में पसीना बहाने पर भी दो जून की रोटी नसीब नहीं हो रही है, यह दृश्य रामायणकालीन समाज में देखने को नहीं

मिलेगा। राजा, अमात्य और प्रशासन से जुड़े लोग ही समृद्ध नहीं थे, बल्कि सारा समाज ही सुख, संतोष, समृद्धि और शांति के वातावरण में चैन की साँसे ले रहा था। वाल्मीकि का अभिप्राय यह है कि दशरथ के प्रजाजनों में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और सांस्कृतिक—सब प्रकार की समृद्धि थी—

> कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
> द्रष्टुं शक्यमयो ध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिक॥

(सर्ग ६/८)

अयोध्या में विषय-लंपट, दुष्ट, मूर्ख (अपढ़) या ईश्वर में विश्वास न करनेवाले किसी मनुष्य को देख पाना भी असंभव था।

स्वयं राजा दशरथ धर्म को जाननेवाले, धर्मनिष्ठ थे, वैसी ही उनकी प्रजा धर्माचरण करनेवाली और सुसंस्कारी थी। सारा समाज ही सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न था। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि अधर्म का आचरण, अनीति या नीतिहीनता, अन्याय, कामासक्त प्रवृत्तियाँ, दुष्टता, नास्तिकता और निरक्षरता जिनकी नींव पर बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े किए जाते हैं, वे सब चर्चाएँ अयोध्या के साम्राज्य से कोसों दूर थीं।

□

राजा और प्रजा

राजा दशरथ की धर्मनिष्ठा ने जैसे प्रजाजन को धर्माचरण की ओर प्रवृत्त किया, वैसे ही विषयवासना का दास होने से बचा लिया। काम भावना होना अलग है, वह वासना में बदल जाना, लंपटता में बदल जाना अलग है। आचार-धर्म के प्रभाव में रहते हुए, विवेक के अधिष्ठान पर आसीन होकर कर्तव्य समझकर क्रियाशील रहते हुए मनुष्य संयमपूर्वक कामभावना में प्रवृत्त हो तो वह अनेक विकृतियों से बच सकता है। पर संयम के बंधनों से मुक्त स्वच्छंद होने पर उसकी कामभावना विकृत रूप लेकर कामवासना बन जाती है। यह विकृति ही विषय लंपटता को पैदा करती है। रावण का वैदुष्य और पराक्रम विषय लंपट होने से ही दूषित हो गया था। शिशुपाल भी ऐसी ही विकृतियों का शिकार हुआ था। कामवासना से जो-जो विकृत हुए, वे सब नष्ट होते गए, उनका अकाल विनाश हुआ, जबकि रामायणकालीन प्रजाजन इस विकृति से कोसों दूर थे। यह लिखकर मानो आदिकवि ने राजा दशरथ को परम गौरव के पद पर अधिष्ठित किया है। यह हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का ही शब्दांतर से गौरव है।

एक बार मन में धर्म के प्रति निष्ठा स्थिर हो जाने पर चोरी करने, संपत्ति लूटने या अपहरण करने; ऐसी दूषित वृत्ति या अविचार उत्पन्न होने की कोई गुंजाइश भी नहीं रहती है। जैसे पांडित्य-विद्वत्ता हासिल करने के लिए धीरे अक्षरज्ञान प्राप्त कर मनुष्य सीढ़ी-दर-सीढ़ी प्रगति करता है, वैसे ही धर्माचरण में प्रवृत्त होकर सत्य इत्यादि गुणों का विकास होकर उसमें अन्य सत्त्वगुणों का उदय होता है। ऐसा होने पर वह किसी भी कीमत पर नास्तिक तो हो ही नहीं सकता। दशरथ की अयोध्या में कोई दुर्गुणी व्यक्ति तो दिखाई ही नहीं पड़ता था, इसलिए महर्षि वाल्मीकि ने प्रजा के बारे में अपना मंतव्य इस प्रकार प्रकट किया है—

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामत्वाः॥

(बालकांड ६/९)

अर्थात् (अयोध्या में) सभी पुरुष तथा महिलाएँ ऋषि-मुनियों की तरह निर्मल, धर्मशील, जितेंद्रिय थे तथा (निर्दोष) चरित्र व (धर्मानुकूल) आचरण का अनुसरण करते हुए आनंद से रहते थे।

तपोवन में रहकर (आजीवन) तपस्या करनेवाले तपस्वियों और ऋषि-मुनियों की तरह राजा दशरथ के प्रजाजनों का अंत:करण शुद्ध-निर्मल था, यह बात आदिकवि बड़े गौरव के साथ प्रतिपादित कर रहे हैं।

सारी ही प्रजा जब संयमी, आचारनिष्ठ, इंद्रियविजयी और निर्मल स्वभाव की थी तो क्या वह कर्तृत्वशून्य या निष्क्रिय थी ? वैराग्य के प्रभाव के कारण क्या निराशा ने उन्हें घेर रखा था या फिर भौतिक समृद्धि और उपभोग के प्रति उदासीन होकर अपनी मृत्यु अपने हाथ में न होने के कारण निरुपाय, असहाय सी अपना जीवनयापन कर रहे थे ? कोई ऐसा भी सोच सकता है, पर वास्तविक चित्र अलग ही था। अयोध्या की प्रजा रसिक, अच्छे-बुरे का ठीक समय पर पहचान करनेवाली और उत्साही थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह ऐश्वर्य के उपभोग में सक्षम थी, समृद्ध तो थी ही। महर्षि वाल्मीकि के ही शब्दों में—

"मुकुट और कुंडल न पहना हुआ, गले में माला न डाला हुआ, पसीने से तर होकर बदबू फैला रहा, चंदन न लगाए हुए, सुगंध रहित, भोग्य सामग्री के अभाव में जी रहा, अस्वच्छ या अशुद्ध अन्नग्रहण करनेवाला, दान न करनेवाला, बाहुभूषण-उरोभूषण से अलंकृत न हुआ, हस्तभूषण रहित, मन पर संयम न करनेवाला, आसिद्धाग्नि, कदाचार में प्रवृत्त, परस्त्री से संबंध रखने वाला, क्षुद्र या चौर कार्य करनेवाला; ऐसा कोई भी आदमी अयोध्या नगरी में (दिखाई) नहीं (पड़ता) था।" देखिए धर्मनिष्ठ और सत्त्वशील रहते हुए अयोध्या के नागरजन कैसे ऐश्वर्य में रहते हुए, रसिकता से समृद्धि का उपभोग करते थे।

प्रजा की उन्नति, उत्कर्ष, समृद्धि और स्वास्थ्य आखिरकार शासक या नेता पर ही आश्रित रहते हैं। सेना के लिए सेनापति, समुद्री जहाज के लिए कप्तान, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए शासक, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री का नेतृत्व और नीति निर्धारण आवश्यक होता है। ४-५ व्यक्तियों के छोटे से परिवार के लिए भी तो मुखिया की जरूरत होती है, जब गृहस्थी की गाड़ी गतिशील रहती है। योग्य समय पर योग्य निर्णय लेने की सामर्थ्य, परिस्थितियों के अनुसार स्वभाव/व्यवहार को कठोर या मृदु बनाए रखने की क्षमता, अपने हित, अपने जीवन को राष्ट्रीय कल्याण के लिए होम कर देने की उदात्तता ही से वह नेता अपने साथ राष्ट्र और राष्ट्रजनों का कल्याण कर सकता है, उद्धार कर सकता है। उन्मादी तानाशाह के आतंक के साये में प्रजा कसमसाकर रह जाती है, पर ऐसे शासक के भ्रष्टाचार और अत्याचारों को वह कभी भी दिल से नहीं चाहती है। बुराई किसी भी काल में हो,

वह बुराई ही होती है, काल बदलने से उसका स्वरूप नहीं बदलता। त्रेता युग का अमंगल कलियुग में मंगल या शुभकारी नहीं हो सकता, वैसे ही द्वापर का मंगल कलिकाल में अमंगल नहीं बनता। इसलिए यदि शासक या राष्ट्राध्यक्ष अभद्र-अमंगल-कल्याण के मार्ग पर चलनेवाला हो तो उसकी प्रजा का कभी भी मंगल या कल्याण नहीं हो सकेगा, इतना तो निश्चित रूप से निर्विवाद सत्य माना जा सकता है।

चित्रकूट पर्वत पर आकर भरत ने प्रभु रामचंद्र से बड़ी अजीजी से विनती की—"आप अयोध्या वापस पधारें और सिंहासन को स्वीकार करें।" परंतु रामजी ने इस निवेदन को स्वीकार नहीं किया। उस समय जाबालि ने किसी नास्तिक की तरह प्रभु से तर्क किया था। पिता को दिए वचन को छोड़ दें, त्याग दें वह वचन और भरत के निवेदन को स्वीकार करें। कौन क्या कहेगा या सोचेगा इसकी फिक्र मत करें। अयोध्या जाकर सिंहासन पर बैठिए और राज्य की सत्ता सँभालिए। इस तरह उपदेश की दो-चार बातें (भी) सुनाईं। पर जाबालि की सलाह प्रभु राम के लिए कैसे रुचिकर हो सकती थी? उलटे उसे भला-बुरा कहते हुए राजधर्म और राजकर्तव्य कैसा होता है, यह भी निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट किया—

कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानः तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥

(सर्ग १०९/१९)

अर्थात् इन सब बातों के अलावा यदि आपके उपदेश के अनुसार आचरण करना प्रारंभ करूँ तो स्वेच्छाचारी बनूँगा और मुझे देखकर सारी प्रजा स्वेच्छाचारी होगी, क्योंकि राजा जैसा आचरण करता है वैसे ही प्रजा उसका अनुसरण करती है।

यदि प्रभु रामचंद्र स्वभावतः ही पितृभक्ति में निष्ठावान् न होते तो रामायण के माध्यम से प्रभु रामचंद्र का चरित्र-चित्रण करने की सूझती ही नहीं। अपने पिता की आज्ञा का मनसा-वाचा-कर्मणा पालन करनेवाले प्रभु राम को आज्ञा-पालन से विमुख करने का कई व्यक्तियों ने प्रयास किया, किसी ने भावनाओं के आवेग में, किसी ने प्रेम-मार्ग से तो किसी ने राजधर्म का आश्रय लेकर। श्रीराम का मन और मत-दोनों ही परिवर्तित करने के प्रयास जारी थे, परंतु वे अपने निर्णय जरा भी टस-से-मस नहीं हुए। पिता द्वारा कैकेयी को दिए गए वरदान जैसे सत्य सिद्ध होने आवश्यक थे, वैसे ही उन वचनों की अनुपालना उनके अपने राज्याभिषेक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी। प्रभु श्रीराम यह तो जानते ही थे कि भौतिक सत्ता और ऐश्वर्य रघुवंशी राजाओं की दृष्टि में नगण्य थे। शत प्रतिशत सत्य ही उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय था। अयोध्या के सिहासन पर उनका अधिकार सर्वथा न्यायसंगत, धर्मशास्त्र व व्यवहार के अनुकूल था, इसे भी अच्छी तरह से जानते थे।

युवावस्था में पिता की आज्ञा को भंग कर सिंहासन की अभिलाषा मन में रखने से लोग क्या कहते न कहते यह दूसरी बात है। परंतु वे ही प्रजाजन कभी राजाज्ञा को न मानकर सिंहासन का अवमान भी कर सकते हैं, इस बात से प्रभु अवगत थे, उन्हें उसकी चिंता भी थी। इसीलिए प्रजाहित में दक्ष, कठोर, न्यायप्रिय या पराक्रमी इन विशेषणों की अपेक्षा सत्यप्रतिज्ञ के रूप में ही विश्वविख्यात हुए। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

नीत्या सुनीतया राजा धर्मं रक्षति रक्षितः।
यदा न पालयेद्राजा क्षिप्रं नश्यन्ति वै प्रजा।

(उत्तरकांड)

अर्थात् प्रजा की रक्षा करनेवाला राजा उत्तम नीति मार्ग से धर्म की रक्षा करता है। राजा जब धर्म का रक्षण करने में कोताही बरतता है, तब प्रजा का शीघ्रता से ही विनाश होता है।

'राजा के द्वारा अधर्मपूर्वक आचरण किए जाने से प्रजा का विनाश होता है' का मतलब उस राष्ट्र का राजा के साथ ही विनाश होता है। प्रजा, जनता, समाज सभी का एक ही अर्थ है—राष्ट्र। प्रजा की उन्नति यानी राष्ट्र का पतन। अत: प्रजा के समक्ष राजा अथवा नेता के रूप में महान् आदर्श होते हैं। किसी राष्ट्र में जब उदात्त आदर्श, उच्च ध्येय, श्रम की महत्ता तथा स्वार्थ-निरपेक्ष जनकल्याण के प्रति समर्पण भावना का ह्रास होने लगता है, नेताओं की दृष्टि में जीवन मूल्य गौण हो जाते हैं, तब सारा राष्ट्र, समाज, सारी प्रजा भ्रष्ट, दुराचारी, हताश और निराधार होकर पतनोन्मुख हो जाती है। हम किसलिए जी रहे हैं ? कोई उद्देश्य नहीं, कोई ध्येय नहीं, तब मरने-मारने पर उतारू होकर सर्वविनाश को गले लगाने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं बचता है। ऐसे समय में सर्वविनाश का वह कार्य कठोर काल क्रूरता से कर जाता है। अनीति पर चलने वाले राजा, लालच और लोभ के शिकार हुए नेता तथा स्वार्थ में सराबोर शीर्षस्थ व्यक्तियों की छाया तले रहनेवाली प्रजा का इस भयावह स्थिति में कोई भी अवलंब क्यों नहीं होता है। इसका रहस्य राजा या नेताओं के आचरण में छिपा है, यह तथ्य हमें अच्छी तरह से समय रहते समझ लेना चाहिए। अस्तु।

□

ऋष्यशृंग का आगमन

अयोध्या के सत्ताधीश होने के नाते दशरथ को वे तमाम परिस्थितियाँ अनुकूल थीं, जो प्राय: हर सत्ताधारी को हुआ करती हैं। स्वयं साहसी और पराक्रमी होने से उसका चारों ओर दबदबा था। सत्ता, संपत्ति, समृद्धि, ऐश्वर्य, मानसम्मान और कीर्ति मानो हाथ जोड़े उसके समक्ष हाजिर थे। ऋषिमंडल उसके अनुकूल था, अमात्य और अधिकारी उसकी आज्ञा के पालन में धन्य-धन्य हो जाते थे, प्रजा उसकी भक्त थी, उसे ईश्वर का अवतार मानती थी।

शासक के अनेक विवाह उन दिनों विधिसम्मत थे। दशरथ के भी तीन पत्नियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। ईशान्य कौसल प्रदेश के शासक भानुमान् की राजकन्या कौसल्या अयोध्या की महारानी थी। दशरथ ने दूसरा विवाह सुमित्रा से किया था, वह मगध की राजकन्या थी। दशरथ की परमप्रिय क़ैकेयी, उसकी तीसरी रानी थी, अश्वपति कैकेय की राजकन्या। कैकेयी की अत्यधिक सुंदरता पर मुग्ध होकर ढलती उम्र में दशरथ ने उससे ब्याह रचाया था। यों स्त्री-सुख की तो कमी नहीं थी, फिर भी पुत्रसुख से वह वंचित ही रहा। पुत्र प्राप्ति के लिए तपस्या भी की, पर वह फलदायी होती नजर नहीं आ रही थी। समय यों बीतता रहा। इस स्थिति का वाल्मीकि ने इस प्रकार संकेत किया है—

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मन:।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकर: सुत:॥१॥

अर्थात् इस प्रकार व्यापक प्रभाव से युक्त, धर्म को जानने वाले, उदार अंत:करण वाले, पुत्र (प्राप्ति) के लिए तपस्या करते हुए (भी) उसके (दशरथ के) वंश की वृद्धि करनेवाला कोई पुत्र नहीं हुआ (उसे पुत्र-प्राप्ति नहीं हुई)।

तपस्या निष्फल होते देख दशरथ के मन में विचार आया कि पुत्र प्राप्ति के लिए

अश्वमेध यज्ञ क्यों न करे? इधर विचार में आना, उधर कार्यरूप में परिणत होना। उसने अपने अमात्य सुमंत के माध्यम से कुलगुरु वसिष्ठ तथा अन्य पुरोहितों को महलों में पधारने के लिए सादर निमंत्रण भिजवा दिया। अश्वमेध यज्ञ करने की दशरथ की इच्छा से प्रसन्न कुलगुरु तथा पुरोहित वर्ग ने अश्वमेध के लिए अपनी सम्मति प्रकट करने में विलंब नहीं किया। तपस्वियों की अनुज्ञा से प्रसन्न दशरथ ने तत्काल अपने अमात्यों को आदेश दिया। अश्वमेध यज्ञ की तैयारी में लग जाइए, ऋषि-मुनियों, ऋत्विक्जनों, ब्राह्मणों को निमंत्रण भेजिए। सभी बड़े-छोटे राजा-महाराजाओं को ससम्मान निमंत्रित कीजिए। जाइए, महायज्ञ के कार्य में सन्नद्ध हो जाइए।

बाद में अनुकूल अवसर देख एकांत में अमात्य सुमंत्र ने विभांडक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग की कथा समझाई और यह भी सुझाया कि उनके नेतृत्व में यदि प्रस्तावित यज्ञ किया जाता है तो (यथाशीघ्र) आपकी पुत्रकामना सफल हो जाएगी—

ऋष्यशृंग द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित्॥ ८॥

महाराजा दशरथ ने शांता नामक अपनी कन्या अपने मित्र राजा रोमपाद को गोद दी थी। एक बार रोमपाद के राज्य में भीषण अकाल पड़ा। क्या करें, क्या उपाय किए जाएँ, इस चिंता में डूबे रोमपाद तक ऋष्यशृंग की चर्चा पहुँच गई। वेदाध्ययनशील यह तपस्वी मुनि अपने पिता विभांडक की आज्ञा से एक ही वन में रहकर तपस्या करते थे। उन्होंने नगर-ग्राम या अन्य स्त्री-पुरुष भी कभी नहीं देखे थे। रोमपाद ने बड़ी होशियारी से सुंदर स्त्रियों को मुनि के आश्रम तक भेजकर ऋषि को मोहित करने में सफलता प्राप्त की और उन्हें नगर में बुलाया। ऋष्यशृंग इतने परमसिद्ध तपस्वी थे कि राजधानी में उनके पदस्पर्श से ही घनघोर बारिश शुरू हो गई, अकाल का संकट टला। चारों ओर आनंद-ही-आनंद छा गया। रोमपाद ने ऋष्यशृंग का यथाविधि पूजा और ससम्मान कर अपनी गोद ली हुई कन्या शांता को समर्पित किया। ऋष्यशृंग और शांता का मंगल-परिणय संस्कार संपन्न करवाकर रोमपाद ने ऋष्यशृंग को घर-जँवाई बनाकर महलों में ही रहने के लिए अनुरोध किया। मोह की विजय हुई।

ऋष्यशृंग की यह कथा सुनाकर अमात्य सुमंत्र ने सनत कुमार की भविष्यवाणी से भी दशरथ को अवगत कराया। सत्युग में की गई वह भविष्यवाणी वाल्मीकि के शब्दों में देखिए—

तं च राजा दशरथो यशस्कामः कृताञ्जलिः।
ऋष्यशृंगं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित्॥ ८॥
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः।
लभते च स तं कार्यं दिव्यमुख्याद् विशांपतिः॥ ९॥

अर्थात् कीर्ति की इच्छा करनेवाला धर्मनिष्ठ राजा दशरथ संतानप्राप्ति तथा स्वर्गलाभ की कामना से हाथ जोड़कर पुत्रकाम्येष्टि यज्ञ-संपादन हेतु द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृंग का यज्ञ के अध्वर्यु के रूप में वरण करेगा तथा उस श्रेष्ठ द्विजोत्तम की सहायता से राजा दशरथ की मनोकामना पूर्ण होगी।

पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः।
वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः ॥ १० ॥

(पुत्रकामेष्टि यज्ञ संपन्न करने पर) सभी प्राणियों में विख्यात तथा (रघु) वंश की निरंतरता को बनाए रखने वाले अतिपराक्रमी चार पुत्र होंगे।

इस प्रकार सनत कुमार द्वारा की गई भविष्यवाणी सुनाते हुए अमात्य सुमंत्र ने राजा दशरथ से निवेदन किया—

स त्वं पुरुषशार्दूल! समानय सुसत्कृतम्।
स्वयमेव महाराज! गत्वा सबलवाहनः ॥ १२ ॥

अर्थात् इसलिए हे पुरुषसिंह! महाराज! सैन्य तथा वाहनादि के साथ आप स्वयं ससम्मान (नक्कारा-शहनाई आदि मंगल वाद्यों के साथ) उन (मुनि श्रेष्ठ) ऋष्यशृंग को लेकर आइएगा।

अमात्य की यह सलाह दशरथ को रास आई। उन्होंने सुमंत की इस कल्पना से कुलगुरु वसिष्ठजी को अवगत कराया तथा यज्ञ-संपादन के उद्देश्य से ऋष्यशृंग को अयोध्या में ले आने की अनुमति प्राप्त की। अपनी पुत्र-प्राप्ति की आस पूरी होने की बड़ी उम्मीदों के साथ राजा दशरथ ने राजकीय दलबल समेत अपनी रानियों को लेकर बड़े ठाट-बाट से अंगदेश के शासक रोमपाद के यहाँ से ऋष्यशृंग को लाने के लिए अयोध्या से कूच किया। रोमपाद ने अपने परिवार तथा मंत्रियों के साथ महाराजा दशरथ का स्वागत किया। रोमपाद के महलों में ही मुनि ऋष्यशृंग के दर्शन से दशरथ अनुगृहीत हुए। महाराजा दशरथ ने ऋष्यशृंग मुनि की यथोचित सत्कारपूर्वक पूजा-अर्चना की, सभी उपस्थितों ने मुनि की चरणवंदना की। रोमपाद ने भी दशरथ के साथ उनके कैसे पारिवारिक दृढ़ संबंध हैं, यह समझाने पर मुनि ऋष्यशृंग ने भी महाराजा दशरथ का स्वागत-सत्कार किया।

रोमपाद के निवास पर सात-आठ दिनों तक रहते हुए दशरथ और उसके परिवारवालों ने रोमपाद की ओर से की गई आवभगत का आनंद उठाया। सप्ताह-भर बाद दशरथ ने ऋष्यशृंग को यज्ञ विधि के लिए अयोध्या भिजवाने की रोमपाद से विनती की। इस निवेदन को स्वीकार करते हुए रोमपाद ने ऋष्यशृंग को सपत्नीक अयोध्या जाने के लिए

सुझाया। ऋष्यशृंग द्वारा यह सुझाव तुरंत मान लेने से दशरथ को हुए आनंद की कोई सीमा नहीं रही। मुनि ऋष्यशृंग व उनकी पत्नी को लेकर हम सब अयोध्या की ओर रवाना हो रहे हैं, 'अयोध्या को सजाइए, सुशोभित करिए' यह आदेश देकर दशरथ ने अपने दूत त्वरित गति से अयोध्या की ओर दौड़ाए। रोमपाद से गले लगते हुए दशरथ ने विदा ली तथा शांता ऋष्यशृंग के साथ अयोध्या के लिए प्रस्थान किया।

ऋष्यशृंग राज के अतिथि थे, उनका स्वागत भी भव्य-दिव्य रीति से हुआ। अयोध्या की सड़कों पर पानी का छिड़काव किया, भवनों पर तोरण लगाए गए। दशरथ का ऋषिमंडल, अमात्य, मंत्रिगण, पुरवासी सारे ही लोग विभांडक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृंग की प्रतीक्षा में पलकें बिछाए खड़े थे। शंख, दुंदुभि, तूरी आदि मंगलवाद्यों की श्रुतिमधुर ध्वनि से गूँज उठे वातावरण में द्विजोत्तम ऋष्यशृंग के पीछे-पीछे दशरथ ने सुशोभित राजधानी में प्रवेश किया। उस रमणीय दृश्य को देखकर प्रजाजन आनंदित हो उठे। महल के अंत:पुर में ऋष्यशृंग को लाकर अर्घ्य-आसनादि समर्पित कर यथाविधि दशरथ ने पूजा की। ऋष्यशृंग कुछ दिन ही क्यों न सही, यहाँ पर रहेंगे—इस विचार से दशरथ 'धन-धन भाग' हुए। ऋष्यशृंग शांता के दर्शन से अंत:पुर की ललनाएँ गद्‌गद हो गईं। निष्काम भावना से तपस्या एवं व्रताचरण करनेवाले के चरणों पर लक्ष्मी कैसे दंडवत् करती है, इसका अनूठा उदाहरण ऋष्यशृंग हैं।

□

सामूहिक संकल्प का रहस्य

अयोध्या में मुनिवर ऋष्यश्रृंग के आने से महाराजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ यथाविधि पूर्ण होने में कुलगुरु वसिष्ठ के मन में अब कोई किंतु-परंतु नहीं रहा। तपोवन में रहनेवाले तपस्वियों, वैदिक विद्वान् और पुरोहितों ने ऋष्यश्रृंग के निर्देशन में परिजनों और अनेक राजा-महाराजाओं की उपस्थिति में अत्यंत दुश्कर अश्वमेध यज्ञ संपन्न किया। स्वयं दशरथ तथा समस्त प्रजाजनों के आनंद का कोई ठिकाना नहीं रहा।

यज्ञ संपन्न होने पर दशरथ ने ऋष्यश्रृंग से निवेदन किया—

ततोऽब्रवीद् ऋष्यशृंगं राजा दशरथस्तदा।
कुलस्य वर्धनं तत्तु कर्तुमर्हसि सुव्रत!॥

(बालकांड, सर्ग १४/५९)

अर्थात् हे सदाचरणशील! हमारी कुलवृद्धि के लिए कारणभूत आवश्यक कार्यसंपन्न करिएगा। इस प्रकार दशरथ द्वारा मुनि ऋष्यश्रृंग से प्रार्थना किए जाने पर

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः।
भविष्यन्ति सुताः राजन्! चत्वारस्ते कुत्वोद्वहाः॥

(बालकांड, सर्ग १४/६०)

मुनि ऋष्यश्रृंग ने दशरथ से कहा—ठीक है, आपके कुल की वृद्धि करनेवाले चार पुत्र होंगे।

अपनी कोई पुत्र-संतति नहीं, इसलिए महाराजा दशरथ दुःखी-कष्टी थे, मन खिन्न रहता था, परंतु निराश या उदासीन नहीं थे। पुत्र-प्राप्ति के लिए उन्होंने स्वयं तपस्या की। स्वयं स्वतंत्र रूप से की गई तपस्या फलीभूत नहीं हो पाई, फिर भी अपना धैर्य ढलने नहीं दिया। सोचते-सोचते अश्वमेध यज्ञ करने की कल्पना उन्हें सूझी। यदि

देखा जाए तो कुलगुरु वसिष्ठ, ऋषिमंडल के अन्य मुनिवरों की सलाह से अयोध्या में उपलब्ध विद्वान् पुरोहितों के सहयोग से दशरथ अश्वमेध यज्ञ को संपन्न करा सकते थे, परंतु ऋष्यशृंग के नेतृत्व में अश्वमेध यज्ञ संपन्न किया जाता है तो वह अधिक फलदायी सिद्ध होगा, ऐसा सुमंत के द्वारा सुझाव दिए जाने पर कुलगुरु वसिष्ठ की सहमति से स्वयं जाकर मुनि ऋष्यशृंग को निमंत्रित करते हुए उनके सहयोग से यज्ञविधि को यथासंभव संपन्न करवाया।

इस सारे घटनाक्रम में ऐसा प्रतीत होता है कि ऋष्यशृंग को निमंत्रित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ एक निमित्त मात्र है। पहले अश्वमेध की कल्पना दशरथ के मन में आकार लेती है, ऋष्यशृंग का नाम भी बाद में उसके कानों तक पहुँचता है। अर्थात् ऋषिपुत्र न भी उपलब्ध होते तो यह यज्ञविधान कुलगुरु वसिष्ठ के निर्देशन में संपन्न हो ही सकता था। रामायणकालीन समाज और संस्कृति की धारणाएँ कितनी ऊँचे दरजे की थीं, यह जानकारी इस घटनाक्रम से उजागर होती है। अमात्य सुमंत्र के द्वारा ऋष्यशृंग का नाम सुझाए जाने पर कुलगुरु वसिष्ठ से बिना कहे या उनकी अनुमति बिना लिये ही स्वयं वन में जाकर जैसे दशरथ ने ऋष्यशृंग को निमंत्रित नहीं किया, उसी प्रकार ऋष्यशृंग को बुलाने की अनुमति माँगे जाने पर अनुनय किए बिना, झूठमूठ का ही कोई अहंकार व्यक्त किए कुलगुरु वसिष्ठजी ने भी उदारतापूर्वक ऋष्यशृंग को निमंत्रित कर अयोध्या में लाने की अनुमति सहर्ष प्रदान की। ''तपोवन में तपस्या करनेवाले ऋष्यशृंग नाम के ऋषिश्रेष्ठ बुलाकर यज्ञ-संपादन का नेतृत्व उन्हें देने से पुत्रकामना अवश्य सिद्ध होगी।'' ऐसी सुमंत के द्वारा सलाह दिए जाने पर दशरथ अपने किसी प्रतिनिधि को निमंत्रण लेकर भेज सकते थे। पर अपना पद, गरिमा और अधिकार सबकुछ भूलकर स्वयं ही तपोवन में जाकर ऋष्यशृंग को निमंत्रित कर दशरथ ने अपनी कुशलता के साथ अपने बड़प्पन और उदारबुद्धि का ही परिचय दिया। महाराजा दशरथ के मित्र रोमपाद ने ऋष्यशृंग को सपत्नीक अयोध्या जाने के लिए प्रवृत्त किया तथा रोमपाद और दशरथ इन दोनों ही राजर्षियों के आग्रहयुक्त निवेदन को स्वीकार कर युवा ऋष्यशृंग अयोध्या आए भी। यह परस्पर सामंजस्य ही सामाजिक या सामूहिक सामंजस्य का मूल आधार है। इसे भूलिए नहीं।

अयोध्या के सारे ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ ऋषिमुनि अपने काम छोड़-छाड़ क्या सिर्फ दशरथ के पुत्र हो जाएँ, इसीलिए प्रवृत्त हो रहे थे? क्या केवल वंश-विस्तार के लिए ही दशरथ पुत्र की इच्छा करते रहे? पुत्र-प्राप्ति के लिए ऋष्यशृंग के निर्देशन में यज्ञ-संपादन करने के संकल्प को सारे प्रजाजन और अमात्य अपना संकल्प क्यों समझने लगे? इस संकल्प की शुभ सिद्धता के लिए बड़े-छोटे सभी लोग अपनी अर्जित पुण्यराशि न्योछावर करने के लिए क्यों तत्पर हुए?

प्रत्येक स्त्री-पुरुष अथवा दंपती को अपनी कोई संतान हो, कन्या या पुत्र हो ऐसी इच्छा या प्रेरणा होना अत्यंत स्वाभाविक है, वह एक प्राकृतिक प्रक्रिया भी है, जिसके लिए किसी बहुत बड़े संकल्प की जरूरत नहीं हुआ करती है। किसी की इच्छा हो या न हो, कुछ अपवादों को छोड़िए तो, स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर बच्चा तो पैदा होगा ही, चाहे वह लड़का हो या लड़की। यहाँ प्रकृतिप्रदत्त इच्छा या नैसर्गिक प्रेरणा का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि वह इच्छा या प्रेरणा कोई बहुत बड़ा पुरुषार्थ नहीं कहा जाएगा। दशरथ पुत्र के लिए पुत्र या अस्थि-मांसादि से युक्त चैतन्य से युक्त मानवाकृति ही प्राप्त करने की कामना नहीं कर रहे थे, उन्हें 'कुलोद्वह' अर्थात् कुल का उद्वहन करनेवाले पुत्र की अपेक्षा थी। जैसे कहा भी गया है कि सौ मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक गुणी पुत्र होना ठीक है, जैसे हजारों तारों की अपेक्षा अकेला चंद्र ही अंधकार को नष्ट करता है। दशरथ ऐसे ही दिगंत कीर्ति वाले पुत्र की कामना कर रहे थे। कुल का उद्वाह का अर्थ है—कुलाचार, कुल की योग्यता, पराक्रम और दानवीरता की परंपराओं का सफल सर्वांगीण निर्वहन। ऐसी परंपरा सूर्यवंश या रघुवंश को सूर्य से प्राप्त हुई थी, इसे ही इक्ष्वाकु वंश के नाम से भी जाना जाता है।

दशरथ को केवल 'कुलदीपक' अभिप्रेत नहीं था। ऐसे दीपक तो बहुतायत में उन दिनों यत्र-तत्र टिमटिमा ही रहे थे। यहाँ पर मूल मुद्दा वंश के सातत्य का नहीं, सद्विचारों की निरंतरता का था। जीवन-प्रवाह निरंतरता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती है, जितने के विचार-निरंतरता की। ऐसे परिवार या उनके सदस्य जिनके मन में उदात्तता लेशमात्र भी नहीं होती है, वहाँ पर जीवन-प्रवाह तो अबाध गति से चलता ही रहता है, लेकिन वह भी अंतहीन समय तक नहीं। जीव में विचार-प्रवाह निरंतर रखने की सामर्थ्य होने से ही उसका जीवन सार्थक होता है। पुत्र-प्राप्ति के लिए दशरथ ने तपस्या तो की ही थी, पर उसके संकल्प की सिद्धि लिए कुलगुरु वसिष्ठ, अन्य ऋषि, अमात्य तथा सारे ही प्रजाजनों ने अपनी पूर्व व वर्तमान में अर्जित समस्त पुण्यराशि का बल राजा पर न्योछावर कर देते हैं, इस रहस्य को जान लेना चाहिए, उसे जानना ही 'अपरिचित' रामायण को समझना है।

राजा प्रजा का मात्र शासक ही नहीं हुआ करता है, उसे काल का कारण कहा गया है—राजा कालस्य कारणम्। यही वह रहस्य है। दशरथ एक व्यक्ति ही नहीं रह जाता है, वह व्यापक या वैश्विक अर्थ में 'प्रजा' बन जाता है। व्यष्टि होते हुए भी वह समष्टि रूप है। व्यष्टि का अर्थ है—व्यक्ति और समष्टि का अर्थ है—समाज। व्यष्टि का समष्टि या व्यक्ति का समाज रूप होने का अर्थ है—'मैं-मेरा' से 'हम-हमारा' बन जाने की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में दशरथ का पुत्र-प्राप्ति का संकल्प सारे समाज का संकल्प बन जाता है। जब कोई संकल्प 'समष्टि-संकल्प' बन जाता है तो उसके 'काल-संकल्प'

बनने में देर नहीं लगती है।

रामजन्म की इस पृष्ठभूमि को ठीक से हृदयंगम करने पर, दशरथ के माध्यम से 'युगंधर पुरुषोत्तम' के अवतरण में प्रत्यक्ष 'काल' कितना प्रयत्नशील था, यह समझना आसान होगा। ऋषिश्रेष्ठ विभांडक ने अपने पुत्र ऋष्यशृंग को जनसंपर्क से दूर वर्षों तक अरण्यवास करते हुए घोर तपस्या करने के लिए क्यों प्रवृत्त किया होगा, उसका रहस्य अब तक प्रकटप्राय हो गया होगा, ऐसा विश्वास निर्मूल सिद्ध नहीं होगा।

'हमारे कुलवर्धन का कार्य आप कीजिएगा' दशरथ की इस विनती को ऋष्यशृंग ने न केवल तत्काल ही स्वीकारोक्ति दी अपितु 'राजन्! कुलवर्धन करनेवाले आपके चार पुत्र होंगे' सहज रूप से यह भविष्यवाणी भी कर दी। दशरथ के लिए यह सुखद आश्चर्य था, सबकुछ अनपेक्षित। उसके आनंद की अब कोई सीमा न थी। रोमपाद राजा के भीषण अकाल से पीड़ित राज्य में जिन ऋष्यशृंग के सहज पादस्पर्श से घनघोर वर्षा होकर प्रजा का संकट टल गया था, उन्हीं ऋष्यशृंग के द्वारा किए जानेवाले पुत्रकामेष्टि यज्ञ से उनके द्वारा की गई भविष्यवाणी आखिर क्यों नहीं पूरी होती? राजा दशरथ की अटूट निष्ठा, ऋष्यशृंग की तपःपूत, आत्मप्रत्ययी वाणी और काल की समष्टिरूप उत्कट कामना की त्रिवेणी का संगम होने पर दशरथ की मनोकामना क्यों पूर्ण नहीं होती? कामनासिद्धि का दृढ़ आत्मविश्वास होने से राजा को परमानंद हुआ हो तो क्या आश्चर्य?

स तस्य वाक्यं मधुरं निशम्य प्रणम्य तस्मै प्रयतो मृगेंद्रः।
जगाम हर्षं परमं महात्मा तमृत्रऋष्य शृंगं पुनरघुवाच॥

(बालकांड, सर्ग १४/६१)

ऋषिश्रेष्ठ के मधुर वचन सुनकर राजा दशरथ ने उन्हें प्रणाम किया तथा अत्यंत हर्षित होकर उसने (पुत्र के लिए) पुनः ऋष्यशृंग से निवेदन किया।

□

यज्ञपुरुष का प्रसाद

महाराजा दशरथ के यज्ञमंडप में ब्रह्मा के साथ सभी देवताओं ने भगवान् विष्णु से विनती की—

मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

अर्थात् मनुष्य रूप में जन्म लेकर युद्धभूमि में आप रावण का वध कीजिएगा।

देवताओं की प्रार्थना और रावण के कुकृत्यों को सुनकर भगवान् विष्णु ने 'दशरथ पितृत्व के योग्य है' यह मन-ही-मन मान लिया। उस समय दशरथ के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए वह पुत्रकामेष्टि यज्ञ करना चाहता है। यह देखकर स्वयं अवतार लेने का निश्चिय कर विष्णु भगवान् अंतर्धान हो गए। यज्ञ-विधि के दौरान—

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम्॥

(बालकांड, सर्ग १६/११)

पुत्रकामेष्टि करनेवाले दशरथ की यज्ञवेदिका की अग्नि से महापराक्रमी, बलशाली एवं अनुपम कांतिवाला एक महापुरुष प्रकट हुआ। इस अग्नि-पुरुष का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि आगे कहते हैं—

''लाल रंग के वस्त्र पहना हुआ वह महापुरुष काले वर्ण का और आरक्त (गहरा लाल) मुखवाला था। सभी शुभ लक्षणों से संपन्न तथा दिव्य आभूषणों से अलंकृत उस महापुरुष की आवाज दुंदुभि या नगाड़े की तरह घन-गंभीर थी। किसी पर्वत की तरह लंबा, बाघ की तरह मस्ती से चलनेवाला, सूर्य के समान प्रभा से युक्त तथा धधकती आग की ज्वाला की तरह वह पुरुष उग्र स्वरूपवाला था। उसके स्वयं के हाथों में चाँदी के ढक्कन से ढकी खीर से भरी सुवर्ण की थाली थी।''

प्रसाद-स्वरूप पायस हाथ में लेकर यज्ञ की अग्नि से प्रकट हुए उस महापुरुष ने महाराजा दशरथ से कहा—हे राजन्! प्रजा के अधिपति विष्णु भगवान् ने मुझे यहाँ भेजा है। यह सुनते ही आनंदित हुए दशरथ ने विनम्र भाव से हाथ जोड़ते हुए उस महापुरुष से निवेदन किया—मैं आपका क्या प्रिय कर सकता हूँ? तब अग्निपुरुष ने राजा को फिर से कहा—

राजन्! अर्चयता देवान् अद्य प्राप्तमिदं त्वया॥ १८॥

"हे राजन्! देवताओं की पूजा-अर्चना करते रहने से (ही) यह पायस तुम्हें प्राप्त हुआ है।"

पायस लाने का अपना प्रयोजन बताते हुए अग्निपुरुष ने स्पष्ट किया—

इदं तु नृपशार्दूल! पायसं देवनिर्मितम्—
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम॥ १९॥

"हे नृपश्रेष्ठ! धनदायक, आरोग्यदायक एवं संतानदायक ऐसे देवताओं के द्वारा बनाए गए इस पायस़ को आप ग्रहण करें।"

भार्याणामनुरूपाणां अश्नीतेति प्रयच्छ वै।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप॥

(बालकांड, सर्ग १६/२०)

"भक्षण कीजिए, ऐसा कहते हुए तुम यह पायस अपनी प्रिय पत्नियों को समर्पित करो, ताकि जिसके लिए तुम यज्ञ कर रहे हो, वे पुत्र तुम्हें अपनी पत्नियों से प्राप्त होंगे।"

महाराजा दशरथ के यज्ञमंडप में अग्निपुरुष के द्वारा इस प्रकार भविष्यवाणी करते ही दशरथ के आनंद का तो कोई पार ही नहीं था। यज्ञपुरुष के द्वारा दिए गए सोने के थाल को अपने मस्तक से लगाते हुए राजा ने अपने परम आनंद को अभिव्यक्त किया, उस दिव्य महापुरुष को प्रणाम किया तथा भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा की। देवताओं के द्वारा बनाई गई खीर का सुवर्ण-थाल दशरथ को देने का पूर्व-नियोजित कार्य पूर्ण होने पर वह अद्भुत महापुरुष आश्चर्यजनक तरीके से यज्ञमंडप से अदृश्य हो गया।

राजा दशरथ को अग्निपुरुष से पायस-प्रसाद प्राप्त होने के समाचार से राजा के अंत:पुर की रानियों का मन आनंद के सागर में हिलोरें लेने लगा। अपनी संतानहीन अवस्था अब समाप्त होगी और मातृपद प्राप्त होगा, इस अवर्णनीय आनंद से कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी के चेहरे खिल उठे। दशरथ भी तुरत-फुरत पायस का सुवर्ण पात्र लेकर अपनी पट्टमहिषी कौसल्या के पास पहुँचा। उसने कौसल्या से कहा, 'स्वयं को

पुत्र प्राप्ति का फल देनेवाला यह पायस-प्रसाद ग्रहण करो।' यह कहकर सुवर्ण पात्र में रखी खीर का आधा हिस्सा कौसल्या को दे दिया। कौसल्या को दिए हुए पायस का आधा भाग उसी के हाथ से सुमित्रा को दिया। कौसल्या को पायस देने पर बचा हुआ हिस्सा दशरथ ने कैकेयी को दिया। कैकेयी को दिए पायस में से आधा भाग उसी के हाथों सुमित्रा को दिया। इस प्रकार से कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी को अलग-अलग पायस दिया गया। इससे अत्यंत प्रसन्न हुई तीनों ही पत्नियों ने स्वयं को सम्मानित महसूस किया। इन तीनों ही रानियों ने अपना-अपना पायस-प्रसाद अलग-अलग ग्रहण किया तथा समयानुसार अग्नि और सूर्य की तरह तेजस्वी गर्भ धारण किए। कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी तीनों ही गर्भवती हो गईं। (बालकांड, सर्ग १६)

ब्रह्मा के वरदान से अजेय बना मूलतः उन्मत्त रावण और अधिक मदोन्मत्त तथा दुर्निवारणीय हो गया था, मानो सारी त्रिलोकी ही उसकी मुट्ठी में आ गई थी। दुष्ट, दुर्जन और दुरात्मा जैसे सारे विशेषण उसकी विकृतियों की तुलना में सौम्य लगने लगे। इस सीमा तक वह नृशंस और वध्य हो गया था। अनेक निरपराधों और स्त्रियों की बद्दुआएँ रावण के सिर के चारों ओर होती रहीं। फिर भी उसे किसी की फिक्र नहीं थी, कोई दिक्कत नहीं हो रही थी। क्योंकि मनुष्येतर व्यक्तियों के लिए वह अजेय था। उसकी हालत बंदर के हाथ में मशाल की तरह हो गई थी। प्रचंड शक्ति का धनी, अविवेकी और घमंडी बन गया। उसका निश्चय दृढ़तम था। जितनी सहजता से वह व्यभिचार या दुष्कृत्य करता था, उतने ही सहज भाव से वह तपस्या करता था। उसका स्वभाव 'इस पार या उस पार' वाला था। हाथ में जो काम लिया उसके होने तक रुकना वह नहीं जानता था। उसके अपने जीवन का कोई उद्देश्य नहीं था। 'मैं सारी त्रिलोकी का स्वामी बनूँ' के अलावा रावण को अपने जीवन का कोई अवलंब नहीं था, कोई आधार नहीं था। और यही उसके तथा सभी लोगों के लिए सिरदर्द बना। पूरा राक्षण कुल केवल डर के मारे उसका साथ निभा रहा था। वे भी रावण के दुराचरण से सर्वथा सहमत नहीं थे। न सुलझनेवाली राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या रावण के रूप में त्रेतायुग की बहुत बड़ी आफत थी। रावण एक प्रश्नचिह्न बन गया। ऐसे दुर्निवार रावण को अपने वरदान से अवध्य बनाने वाले ब्रह्मा ने ही अंततोगत्वा रावण को अवध्य से वध्य बनाने के लिए भगवान् विष्णु का मनुष्य बनने का सुझाव दिया और देवताओं ने भी इसी प्रकार से नम्र निवेदन किया। इससे यह प्रकट होता है कि रावणवध उस काल की आवश्यकता थी, एक माँग थी।

काल ही समस्या को उत्पन्न करता है और उसका समाधान भी करता है। उस काल की सबसे बड़ी 'रावण' समस्या को सुलझाने के लिए काल ने 'राम' के रूप में निरपवाद उपाय सुझाया। इसलिए रामजन्म की पृष्ठभूमि राम के जन्म जितनी ही

महत्त्वपूर्ण बन जाती है। तपस्वी ऋष्यशृंग, सदाचरणशील दशरथ, भगवान् विष्णु का पृथ्वी पर मनुष्य रूप में रघुकुल में जन्म लेने का निर्णय तथा यज्ञपुरुष के द्वारा दशरथ को संतानदायक पायस-प्रसाद की प्राप्ति, इस घटनाक्रम को यदि देखें तो वाल्मीकि किस 'रामरहस्य' का प्रतिपादन करना चाहता है, सहज ही ध्यान में आ जाता है।

□

विष्णु भगवान् के सहायक

ब्रह्मदेव तथा अन्य समस्त देवगण एवं ऋषि-मुनियों की मनुष्य रूप में अवतार लेने की प्रार्थना स्वीकार कर जैसे ही भगवान् विष्णु ने दशरथ के पुत्रों के रूप में जन्म लेने का निश्चय किया, ब्रह्मा को आगामी भविष्य दिखाई देने लगा। स्वयं भगवान् मृत्युलोक में मनुष्य रूप में अवतार लेकर रावण का वध करेंगे; यह निश्चित होने पर अति उत्साहित ब्रह्मा देवताओं से कहने लगे—

सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिण:।
विष्णो: सहावान्बलिन: सृजध्वं कामरूपिण:॥ २॥

अर्थात् हम सभी का हित चाहनेवाले, सत्यप्रिय तथा पराक्रमी विष्णु के (ऐसे सहायकों को आप जन्म दें जो उनकी (विष्णु की) इच्छा के अनुरूप रूप धारण करनेवाले तथा बलशाली हों।

ये सहायक कैसे हों, उनमें कौन-कौन से महत्त्वपूर्ण गुण हों तथा उनकी सामर्थ्य कैसी होनी चाहिए, इसका ब्योरा देवताओं को बताते हुए ब्रह्मा फिर से कहने लगे—

मायाविदश्च शरांश्च वायुवेगसमान जवे।
नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान्॥ ३॥

अर्थात् विष्णु के सहायक राक्षसों की माया को जाननेवाले, शूर, वायु की तरह वेगवान्, नीतिज्ञ, बुद्धिमान् तथा विष्णु के समान पराक्रमी हों।

इसके अलावा वे शत्रु के लिए अवध्य, साम-दामादि उपायों से अभिज्ञ, देवताओं की तरह दिव्य शरीरधारी तथा अस्त्रविषयक प्रयोग व उनके उपसंहार को जाननेवाले हों।

मृत्युलोक में मनुष्य के रूप में अवतार लेने पर भगवान् विष्णु के सहायक भी

उनके अनुरूप हों, ऐसा ब्रह्मा का आग्रह था। भगवान् स्वयं दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी की कोख में अपने चार अंशों के चार रूपों में प्रकट होने के लिए सतर्क थे ही। भगवान् स्वयं मृत्युलोक में अकेले न आकर और तीनों को साथ लेकर आ रहे थे। इसके बावजूद लोककंटक रावण के साथ युद्धभूमि में जब समर का अवसर हो तब रणांगण पर विष्णु के सहायकों के मोरचे भी उतने ही बलशाली, अद्‌भुत सामर्थ्यवाले, परिपूर्ण तथा नीतिमान् होने ही चाहिए, इसमें ब्रह्मा को किसी तरह का संदेह नहीं था। इसीलिए वे देवताओं को संबोधित करते हुए मृत्युलोक में अवतीर्ण होनेवाले सहायकों की योग्यता को पूरे ब्योरे के साथ रेखांकित कर रहे थे। यदि सही मायने में रावणवध का लोककल्याणकारी महान् कार्य सिद्ध होना है तो उसमें सभी बड़े-छोटे देवताओं द्वारा अपना अहंकार छोड़कर सहयोग करना आवश्यक था। भगवान् विष्णु मृत्युलोक में मानव रूप में आ रहे हैं तो उनके सहयोगी देवी-देवताओं का भी विविध रूपों को धारण कर यहाँ पहुँचना अवश्यंभावी था। इस संदर्भ में ब्रह्मा देवताओं को इन शब्दों में समझा रहे हैं—

> अप्सर:सुच मुख्यासु गंधर्वीणां तनूषु च।
> यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च॥
> किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च।
> सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्॥ ६ ॥

अर्थात् मुख्य-मुख्य अप्सराओं, गंधर्व पत्नियों, यक्ष तथा नागों की कन्याओं, रीछ की कन्याओं, विद्याधारियों, किन्नरियों के गर्भ से/तथा वानरियों की कोख से वानरों को उत्पन्न करो।

मृत्युलोक में कौन किसकी कोख से जन्म लेगा, यह आज्ञा देने पर ब्रह्मा जांबवान् के बारे में देवताओं को जानकारी दे रहे हैं—

> पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवान् ऋक्षपुंगव:।
> जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥
>
> *(बालकांड, सर्ग १७/७)*

अर्थात् रीछों में श्रेष्ठ जांबवान् को मैंने पहले ही जन्म दिया है, क्योंकि जम्हाई लेते हुए मेरे मुँह से वह अनपेक्षित तरीके से पैदा हुआ है।

सामान्यत: रामकथा से परिचित व्यक्तियों को राम को वनवास में सुग्रीव, हनुमान्, जांबवान् और जंगल में रहनेवाले वानर और सुग्रीव की सेना के वानर हर तरह से राम की सहायता करते हैं, यह मालूम होता है। सीता की खोज, लंका दहन और रावण

वध में वानर सेना सहायता करती ही है, परंतु राम का कार्य अपना कर्तव्य समझकर सब मिलकर करते हैं, यह भी ज्ञात होता है। किंतु मानवता के कल्याण में राम का सहयोग करने के लिए ब्रह्मा इन सबके जन्म की पहले से व्यवस्था कर रखते हैं। यह तथ्य हमें रामायण पढ़ने से ही ध्यान में आता है। यही 'अपरिचित' रामायण है।

ब्रह्मा के आदेश को मान्य कर यक्ष-गंधर्व, देवता आदि उसका पालन करने का वचन देते हैं और उसके अनुसार पृथ्वी लोक पर उन्होंने वानररूपी पुत्रों को जन्म भी दिया। महात्मा, ऋषि, मुनि, सिद्ध, विद्याधर, उरग और चारणों ने वन में संचार करने वाले वीर-पुत्रों को वानरों के रूप में जन्म दिया।

परमार्थ-साधनों में निष्णात, अलौकिक सिद्धियों से युक्त, सत्त्वगुणी विभूतियाँ सिद्ध कहलाती हैं। सिद्ध, अजर और अमर बने देवता, अतिमाननीय विभूतियाँ,. डाकिनी-शाकिनी आदि भूतयोनि की स्वामिनियाँ—इन सब ने इस काम में सहयोग किया। विश्व की अंतर्बाह्य शक्तियों और क्रियाकलापों पर सिद्धों का असामान्य अधिकार रहता है। उरग अर्थात् नाग, सर्प आदि। बालकांड के १७वें सर्ग के १०-१७ श्लोकों में इन विभूतियों को किन-किन नामों से उत्पन्न किया, इसकी विगत भी विस्तार से दी है। यथा—

१. इंद्र ने अपने समान दिखाई देनेवाले और वानरों के अधिपति को जन्म दिया।
२. बृहस्पति ने तार नामक महान् वानर पैदा किया, जो बहुत बुद्धिमान् था।
३. कुबेर का पुत्र गंधमाद नामक वानर था।
४. नल नाम का वानर विश्वकर्मा का पुत्र था।
५. मैंद और द्विविद इन दो श्रेष्ठ सौंदर्यशाली वानरों के पिता अश्विनी कुमार थे।
६. वरुण ने सुषेण नामक वानर को जन्म दिया।
७. शरभ वानर पर्जन्य का पुत्र था।
८. वायुपुत्र हनुमान के रूप में विख्यात हुआ।

ब्रह्मा की आज्ञा से—

ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीव वधोद्यताः।
अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः॥

(बालकांड, सर्ग १७/१८)

वीर, अतुल बलशाली, इच्छानुसार रूप धारण कर सकनेवाले और रावण-वध के लिए तत्पर (ऐसे) हजारों वानर पैदा हुए।

प्रभु रामचंद्र के जन्म से पहले रावण का वध करने के लिए मानो सहायकों

की एक नई सृष्टि ही भू-लोक पर अवतरित हुई। स्वयं का वैकुंठवास छोड़कर रावणवध के लिए कौसल्या के गर्भ से जन्म लेने में सृष्टि के संचालक स्वयं भगवान् विष्णु को जब कोई संकोच नहीं हुआ तो और देवसिद्धों आदि को तो वैसे करना ही था। परिस्थिति ऐसी ही बनी थी। रावण का वध ईश्वरीय कार्य बन गया था। अत: ईश्वरीय अंश इहलोक पर अवतीर्ण हुए तो कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं था। सत्ता, संपत्ति, शस्त्रास्त्र और सेनाबल की किसी भी प्रकार की अनुकूलता न होते हुए भी भगवान् राम ने रीछ और वानरों के सहयोग से गुह और विभीषण की मित्रता के सहारे, वृक्ष और पर्वतों को शस्त्रास्त्र बनाते हुए तथा जटायु और संपाती के बलिदान से महापराक्रमी रावण का वध किया और वह भी पूर्व में प्रतिज्ञा करके। एक रावण के वध से त्रेतायुग में जो शुभ, मंगल, कल्याण हुआ, उसी का उत्तरोत्तर अधिकार हमारे पास आया है। कम-से-कम इतना तो ध्यान हमें रहना चाहिए।

□

वानर सेना

भगवान् विष्णु के सहायकों के रूप में हजारों बलवान् वानर पृथ्वी पर उत्पन्न हुए और वे भी ब्रह्मा के आदेशानुसार। देव-देवता, यक्ष, गंधर्व, ऋषि, चारण, उरग और रीछों ने पूर्वत: तय करते हुए विविध वनों में अनेक वानरियों की कोख से जन्म लिया। इसका यह तो सहज ही तात्पर्य है कि रामजन्म के पूर्व में भी वानर और रीछ थे ही, भगवान् राम को सहयोग करने के लिए प्रथम बार ही पृथ्वी पर प्रकट नहीं हुए थे। ब्रह्मा ने जिन-जिन योनियों को निर्देश किया, उन विशिष्ट योनियों में ही अधिक संख्या में वानर पैदा हुए; इतना ही मतलब है। ब्रह्मा की आज्ञा के अनुसार रीछ, वानर और गोपुच्छ योनि में हाथी या पर्वतों की तरह बलाढ्य तथा भव्य आकृतियों में उन देवपुत्रों ने बिना देर किए जन्म लिया—

यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रम:।
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक्॥ २॥

(प्रत्येक) देवता का जैसा रूप, वेशभूषा तथा पराक्रम था, उसी के अनुसार उनके अलग-अलग पुत्र हुए।

वाल्मीकि रामायण के बालकांड में इन वानरों का वर्णन एक पूरे सर्ग में किया गया है। किन-किन ने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे वानर-पुत्र पैदा किए, उनके शस्त्र क्या थे, सामर्थ्य कैसी थी यह पूरा वृत्तांत महर्षि ने एक संपूर्ण सर्ग में प्रतिपादित किया है। उसका सार इस प्रकार है—

वानरों में 'गोलागुल' नाम के पैदा हुए वानर देवताओं से भी अधिक वीर और पराक्रमी थे। देवतागण, महर्षि, गंधर्व, यक्ष, नाग, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर और उरगों ने अत्यंत आनंदित होकर हजारों वानर पुत्र पैदा किए, जो शरीर से बलशाली तथा इच्छानुसार सभी वनों में संचार करने वाले थे तथा उन्होंने वानरी-रूपधारी अप्सराओं, विद्याधरियों,

नागकन्याओं और गंधर्व कन्याओं की कोख से जन्म लिया था। इच्छानुसार रूप धारण करने में सक्षम और बलशाली वे वानर अपनी मरजी के अनुसार वनों में संचरण करने वाले थे। अपने आकार व सामर्थ्य के कारण वे सिंह और बाघों के समान थे, वे शिलाओं से प्रहार करते थे और पर्वतों को शस्त्र बनाकर युद्ध किया करते थे। बेतरतीब बढ़े हुए नाखून और मजबूत डाढ़ें ही उनके शस्त्र थे। सभी प्रकार के अस्त्रों के संचालन में वे निपुण थे। बड़े-से-बड़े पहाड़ों को हिला देनेवाले, पेड़ों को जड़ से उखाड़कर फेंकनेवाले, अपनी तीव्र गति से समुद्र को क्रुद्ध करनेवाले, पाद-प्रहार से पृथ्वी को (भी) विदीर्ण करनेवाले, महासागर में तैरते हुए (क्षण भर में) आकाश में उड़ान भरनेवाले, वनों में ध्वंस करने वाले, मदमस्त हाथियों को रोकनेवाले वे वानर गर्जना करनेवाले प्राणियों और पक्षियों को अपनी गर्जना से धरती दिखा देते थे। वे (वानर) महात्मा इच्छानुसार रूप धारण करते हुए (स्व) समुदायों का परिपालन करते थे। वानरों के मुख्य-मुख्य समूहों में वानर सेना के रक्षक थे। वानर-समूहों की रक्षा करने में श्रेष्ठ और शूर ऐसे अन्य वानर प्रमुखों को उन्होंने रणांगण में जीत लिया था। हजारों वानर ऋक्षवान् पर्वत के सहारे रहने लगे तो कोई अन्य पर्वतों पर या वनों में।

सूर्य का पुत्र सुग्रीव और इंद्रपुत्र बाली, दोनों की सेवा में सारे वानरसेना के नायक रहने लगे। इसी प्रकार नल, नील, हनुमान् तथा अन्य सेनानायक भी इन दोनों भाइयों की सेवा में जुट गए। गरुड़ की तरह बलाढ्य वे युद्ध-निपुण वानर वनों में घूमते-घूमते शेरों, सिंहों और बड़े-बड़े भुजंगों को (भी) कष्ट देते थे।

महापराक्रमी और महाबाहु बाली अपनी वीरता से ऋक्ष और गोपुच्छ जाति के वानरों की रक्षा करता था। अनेक आकृतियों वाले तथा भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त इन शूर वानरों ने पर्वत, वन और समुद्रों सहित सारी पृथ्वी को ही व्याप्त कर दिया था।

तैर्मेघवृन्दाचलकूटसंनिभैः महाबलैर्वानरयूथपाधिपैः।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः समावृता रामसहायहेतोः॥

(बालकांड १८/३८)

मेघाडंबर अथवा पर्वतशिखरों की तरह भयानक शरीर व रूपधारी, प्रभु रामचंद्र की सहायता के लिए उत्पन्न हुए वानर सेना के नायकों से (मानो) पृथ्वी घिर गई, ढक सी गई।

महाराजा दशरथ की रानियों की कोख से चार अंशों में पृथ्वीलोक पर अवतरित होने का भगवान् विष्णु द्वारा आश्वासन दिए जाने पर ब्रह्मा के एक आदेश मात्र से स्वर्ग में रहनेवाले देव-यक्ष-गंधर्व, ऋषि, ऋक्ष तथा उरगों ने पृथ्वी पर, जहाँ-जहाँ वानरकुल दिखाई दें, वहाँ-वहाँ जा-जाकर वानर और रीछों की मादाओं के गर्भों से प्रभु रामचंद्र

की सहायता के लिए जन्म लिया। देव-गंधर्वादि स्वर्ग से पृथ्वी पर पैदल ही चलकर वानर क्यों बने? उसके क्या कारण हो सकते हैं? पहला कारण तो यह प्रतीत होता है सारी त्रिलोकी को परेशान करनेवाले और किसी के भी वश में नहीं आने वाले रावण का वध कर चारों ओर मंगलमय वातावरण बनाते हुए जनता को भयमुक्त करना था। दूसरे श्रीविष्णु के द्वारा मनुष्य रूप में किए जा रहे रावणवध के महान् कार्य में समग्र रूप से सहायता करना था तथा तीसरे, ब्रह्मा की आज्ञा को प्रमाण मानकर पृथ्वी पर मनुष्यों से हीन माने गए वानरों और रीछों के वंश में जन्म लेकर प्रत्यक्ष युद्धभूमि में भगवान् राम को रावणवध के पुण्यकार्य में सहायभूत होना था। वाल्मीकि के द्वारा किए गए वर्णन के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् राम के जन्म से पूर्व भी वानर बड़ी तादाद में पृथ्वी पर अस्तित्व में थे। इसीलिए वन में सीता का हरण किए जाने पर भगवान् राम ने सुग्रीव की राजधानी किष्किंधा की ओर प्रस्थान किया। देवताओं को भी कारागृह में बंद कर सकने वाले रावण की सामर्थ्य, बल और सेना कितनी असीमित होगी, इसकी कल्पना करते हुए भी प्रभु रामजी ने वानर जाति की मित्रता को आवश्यक माना होगा, यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

वानर जन्म से ही बलशाली तथा इंद्रजाल को पहचाननेवाले, वायु की तरह वेगवान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी, शस्त्रास्त्रकुशल तथा दिव्य शरीर धारण करनेवाले थे। अपनी इच्छानुसार वे कभी भी बड़ा या सूक्ष्म रूप ले सकते थे। लंकाधिपति रावण केवल पराक्रमी और क्रूर ही नहीं था, वह मायावी था, तंत्रमार्गी भी था। रावण और उसकी सेना का शरीर व शस्त्रास्त्र बल तथा राक्षसी-माया के अनुपात में उतने ही शक्तिशाली और माया की सामर्थ्य से युक्त सैनिक भगवान् राम के पक्ष में होना आवश्यक था। स्वर्ग में रहनेवाले देवता रावण की दोनों प्रकार की सामर्थ्य से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने राक्षसी माया का सामना करने के लिए वानरी माया की शक्ति की पहले से ही तैयारी कर रखी थी। इन वानरों में कइयों ने आवश्यकता के अनुसार अथवा अपनी रक्षा के लिए मायावी रूप धारण किए ही होंगे तथापि वानरों में से ही वायु व अंजनि के पुत्र हनुमान् की मायावी गति को महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में स्पष्टत: रेखांकित किया है। राम-लक्ष्मण से पहली बार मिलते हुए जैसे हनुमान् ने अपना मूल रूप छोड़कर किसी भिक्षु का रूप धारण कर लिया था, उसी तरह लंका में प्रवेश करने के बाद अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए हनुमान् ने अनेक रूप धारण कर लिये थे। स्वयं वायुपुत्र होने से ही जैसे समुद्र पार कर लंका में हनुमान् ने प्रवेश किया वैसे ही हवा में उड़ान भरने का पहले से ही अनुभव होने के कारण वे लंकादहन भी कर सके।

आज वानर जाति उत्पात मचानेवाली, विध्वंस करनेवाली तथा चिड़चिड़ाहट वाली जाति के रूप में पहचानी जाती है। फिर भी लोग राम के सहायक के रूप में उनका आदर

करते हैं, प्यार से उन्हें खिलाते-पिलाते हैं। हजारों वर्ष पहले वानरों ने प्रभु रामचंद्र की जो सहायता की, उस पुण्य राशि का फल उनके वर्तमान उत्तराधिकारियों को अब तक मिल रहा है, यही क्या कम है ?

□

उत्सव रामजन्म का

ब्रह्मा के आदेश से देवी-देवता, यक्ष-गंधर्व आदि स्वर्ग में रहनेवाले देवताओं ने वानर, रीछ जैसी योनियों में पृथ्वी पर जन्म लिया। भूलोक पर चारों ओर वानर-ही-वानर पैदा हुए। पृथ्वी पर दशरथ के कुल में भगवान् विष्णु के द्वारा पुत्र रूप में अवतार लेने से पूर्व ही रावण वध के पुण्य कार्य के लिए स्वर्ग के देवताओं ने मृत्युलोक पर वानर आदि योनियों में जन्म लेकर एक तरह से बहुत बड़ा कार्य संपन्न कर लिया था।

उधर अयोध्या नगरी के बाहर खड़े किए गए भव्य शामियाने में महाराजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ संपन्न हो गया था। उस यज्ञ में सारे देवता हवि का अपना-अपना हिस्सा लेकर जिस रास्ते पर आए थे, उसी रास्ते चले भी गए थे। यज्ञ की दीक्षा से संबंधित सभी नियमों का पालन करते हुए यज्ञ पूरा कर महाराजा दशरथ अपनी महारानियों, रानियों, सेवक, सैन्य बल तथा वाहनों के काफिले के साथ अयोध्या में प्रवेश कर चुके थे।

यज्ञ के लिए निमंत्रित अन्य राजा-महाराजाओं का दशरथ के द्वारा विदाई में सम्मान किए जाने पर उन्होंने कुलगुरु वसिष्ठ और मुनि ऋष्यशृंग को प्रणाम कर अपनी राजधानियों के लिए प्रस्थान किया।

अयोध्या में प्रवेश करते समय दशरथ और उसके अनुयायियों का क्रम देखिए। अपनी नगरी के श्रेष्ठ वैदिक विद्वान् और पंडितों के रथ यद्यपि जुलूस के अग्रस्थान पर थे तथापि सर्वाधिक मान्य सिद्धपुरुष ऋष्यशृंग और उनकी पत्नी शांता ने अयोध्या में सर्वप्रथम प्रवेश किया। उनका अनुसरण करते हुए राजा दशरथ ने अपनी सेना के साथ नगरी में कदम रखा। पुत्र प्राप्ति के संकल्प की भावी सिद्धता की कल्पना से मन-ही-मन प्रसन्न महाराजा दशरथ ने अपने मंत्री, अमात्य, सेनापति, सैनिक और अधिकारियों को जाने की आज्ञा दी। अब उसका ध्यान अपनी मनोकामना की ओर ही लगा रहा।

अश्वमेध यज्ञ समाप्त हुआ। एक वर्ष बीत गया—

ततो यज्ञसमाप्तौ तु ऋतूनां षट् समत्ययौ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ॥ ८॥

अर्थात् यज्ञ समाप्त हुए छह ही ऋतुएँ एक-एक कर बीत गईं। बारहवें महीने में चैत्र की नवमी तिथि का उदय हुआ—

नक्षत्रे दितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥ ९॥
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोक नमस्कृतम्॥
कौसल्या जनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्॥ १०॥

पुनर्वसु नक्षत्र में पाँचों ही ग्रह उच्च स्थिति में रहते हुए तथा लग्न में चंद्र और बृहस्पति हों, ऐसे करकट लग्न में दिव्य (दैवी) लक्षणों से युक्त, सभी के लिए पूज्य जगदीश्वर रामचंद्र को कौसल्या ने जन्म दिया।

महर्षि वाल्मीकि द्वारा देखा हुआ राम कैसा था?

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तौष्ठं दुन्दुभिस्वनम्।
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥ ११/१२॥

अर्थात् अत्यंत भाग्यशाली, भगवान् विष्णु अर्ध भाग-स्वरूप, आरक्त नेत्र और लालिमा लिये होंठों से युक्त, दुंदुभि की तरह (गंभीर) आवाज वाले, असीमित तेज से युक्त तथा श्रेष्ठ उस इक्ष्वाकुनंदन (को हाथों में लिये) से कौसल्या इंद्र के साथ अदिति की तरह शोभायमान हुई।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के चौथे अंश के रूप में महापराक्रमी भरत का कैकेयी की कोख से जन्म हुआ। इसी प्रकार सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो वीर पुत्र हुए। भरत का जन्म पुष्य नक्षत्र में मीन लग्न पर तथा मघा नक्षत्र में सूर्य के उच्च स्थानीय रहते हुए कर्क लग्न में लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ।

एक बार संकल्प कर लिया तो वह सिद्ध हो ही जाना चाहिए। छोटा-मोटा या कोई व्यक्तिगत संकल्प सिद्ध हो जाए तो उसका जश्न हम अपने पारिवारिक स्तर पर मनाते हैं, परंतु वही जब सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर का हो तो उसका जश्न व्यापक रूप से राष्ट्रीय या सामाजिक बड़े पैमाने पर मनाया जाता है। रावण का अस्तित्व लोकसंकट ही नहीं, त्रिलोकी का संकट था। तीनों ही लोक उससे भयाक्रांत, आतंकित थे। इसीलिए स्वर्ग के निवासी स्वयं देवताओं ने ही रावणवध का लोककल्याणकारी संकल्प कर लिया

था। उस महान् संकल्प को स्वयं भगवान् विष्णु ने राम के रूप में अवतार लेकर पूरा किया। तब सारी त्रिलोकी अपूर्व रूप से आनंदित हुई हो तो क्या आश्चर्य?

जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च स्वात्पतत्॥ ७॥

(राम जन्म होने पर) गंधर्वगण गायन करने लगे, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, देवताओं की दुंदुभियाँ बजने लगीं तथा आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी।

स्वर्ग के देवताओं ने तो अपना आनंद इस प्रकार अभिव्यक्त किया, पर दशरथ की अपनी राजधानी में प्रजा ने पुत्रजन्म का उत्सव कैसे मनाया?

उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः।
रथ्याश्च जनसंबाधा नटनर्तकसं कुलाः॥ ८॥

अयोध्या में लोगों की बड़ी भारी भीड़ द्वारा उत्सव मनाया जा रहा था। नट और नर्तकों से सारी सड़कें खचाखच भर गई थीं।

अयोध्या में राजपुत्र का जन्मोत्सव मनाते हुए जनता के आनंद का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—गान-वादन से निनादित राजमार्ग (बिखेरे गए) रत्नों (और मोतियों) से भर गए थे। पुत्र प्राप्ति से अत्यंत आनंदित हुए दशरथ ने, पुराण-पाठक, भाट और स्तुति-पाठकों को प्रचुर मात्रा में उपहार दिए तथा विपुल दक्षिणा के साथ ब्राह्मणों को अनेक गौएँ समर्पित कीं।

राजमहलों, भव्य हवेलियों और घर-घर तथा मार्गों पर पुत्रोत्सव का भव्य-दिव्य आनंद प्रकट हो रहा था। ऐसे सामूहिक उल्लास और सार्वजनिक आनंद के वातावरण में पुत्र जन्म से पहले दस दिन कब बीत गए, पता ही नहीं चला।

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयीसुतम्॥ २१॥
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते सदा॥ २२॥

अर्थात् ग्यारह दिन बीतने पर दशरथ ने महात्मरूप ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'राम' और कैकेयी के पुत्र का नाम भरत रखा। इसी प्रकार सुमित्रा के पुत्रों का नामकरण लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न किया। सदा ही परम प्रसन्न रहनेवाले कुलगुरु वसिष्ठ ने इन चारों (ही) राजकुमारों का नामकरण संस्कार संपन्न किया।

भगवान् राम का जन्म होना हजारों वर्ष पहले की घटना है। इतने प्राचीन समय में

भी किसी राजघराने में पुत्र के जन्म का विवरण देते हुए महर्षि किस दिन नामकरण संस्कार हुआ, इसे भी रेखांकित कर रहे हैं, यह महत्त्वपूर्ण बात है। महाराजा दशरथ ने कुलगुरु वसिष्ठ की देखरेख में अपने चारों कुमारों का नामकरण संस्कार उनके जन्म से बारहवें दिन करवाया, इसे हमें ध्यान में रखना होगा।

यदि देखा जाए तो रामायण काल में आज की तरह भागा-दौड़ी का जीवन नहीं था। राजघराने में विवाह भी सोलह-सोलह दिन चलते थे। अर्थात् छोटी सी सुखद घटना का आनंदोत्सव समृद्धि और संपन्नता के कारण कई दिनों तक मनाए जाने की परंपरा थी। फिर १०-१५ दिन तक पुत्रोत्सव मनाकर बाद में दशरथ ने नामकरण संस्कार क्यों नहीं किया ? बारहवें दिन ही नामकरण करने का क्या प्रयोजन है ? क्या उसका कोई शास्त्रीय संकेत है ?

□

अयोध्या में विश्वामित्र

कौशल्या को पुत्र-प्राप्ति हुए ग्यारह दिन बीत गए और महाराजा दशरथ ने दूसरे ही दिन कुलगुरु वसिष्ठ की आज्ञा से पुत्र का नामकरण 'राम' किया। नामकरण की तिथि का वाल्मीकि द्वारा उल्लेख किया जाना महत्त्वपूर्ण है।

इन सब बातों का इतना ही तात्पर्य है कि अति प्राचीन काल से जन्म के बारहवें दिन नामकरण किए जाने की परंपरा रही है। परंतु इस संबंध में शास्त्रकार/स्मृतिकार एकमत नहीं हैं, इसलिए कोई जन्म से बारहवें दिन या ४० दिन बाद या कभी-कभी साल भर बाद भी नामकरण की अनुज्ञा देते हैं। परंतु बारहवें दिन नामकरण किए जाने की प्राथमिकता के कारणों का लगता है, किसी ने विचार नहीं किया है। आजकल तो भागा-दौड़ी के जीवन और लोगों की बढ़ती उत्सवप्रियता के कारण बारहवें दिन का ही क्या, नामकरण का अन्य संस्कारों की तरह महत्त्व नगण्य होता जा रहा है। इसलिए अवकाश, रविवार अथवा सभागृह जैसे उपयुक्त स्थान की उपलब्धता ही नामकरण की तिथि का प्रायः निश्चय करती/करवाती है। पर हमारी राय में ऐसा करना औचित्य-विचार चर्चा का विषय है।

बच्चा पैदा होने पर पहले ग्यारह दिन ठीक-ठाक निकल जाएँ, दूध पीना आदि प्राकृतिक क्रियाएँ यथाक्रम चलती रहें, तब बारहवाँ दिन नामकरण कर पहचान करने का 'प्रथम' दिन होता है। इसीलिए पुराने जमाने में बच्चा पैदा होने की सूचना भी पहले १० दिन किसी को नहीं दी जाती थी। बारहवें, अर्थात् बच्चे के नाम के साथ पहचान का पहला दिन अपने आप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वह इस दिन नाम सहित हो जाता है—अनाम से नामवाला। पहले ग्यारह दिन वह जीवमात्र होता है। नामकरण से ही उसे पहचान मिलती है। नाम मिलने पर वह जीव से मनुष्य बनता है। इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही नामकरण में कोई बहुत बड़ी अपेक्षा नहीं होती है। उपाध्याय, सभागार, अल्पाहार या लंच-डिनर किसी की जरूरत नहीं होती है। ये सब

बारहवें दिन उपलब्ध हो जाएँ तो ठीक, न हों तब भी उस दिन नामकरण से चूकना नहीं चाहिए। क्योंकि नामकरण में जितने दिनों की देरी हो, उतने समय तक जातक को बिना नाम के रखना न उचित है और न ही हितकारक। घर में कोई मृत्युशय्या पर हो, मौत हो गई हो, अपघात हुआ हो या कोई और संकट हो, तो नामकरण में विलंब समझ में आ सकता है। पर ऐसा कोई कारण न हो और परिस्थिति सामान्य हो तो जातक को १-२ मास तक बिना नाम के रखना बालक के साथ अन्याय है, और करने वाले हैं आप और हम।

भगवान् विष्णु के चार अंशों से महाराजा दशरथ के तीन रानियों से चार पुत्र हुए—कौशल्या का राम, कैकेयी का भरत तथा सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न। चार भाई, किंतु जोड़ियाँ दो। पहली जोड़ी राम-लक्ष्मण और दूसरी भरत और शत्रुघ्न की। थोड़ी-थोड़ी समझ आते-आते राम व लक्ष्मण को परस्पर एक खास आकर्षण या अपनापन लगने लगा। भरत और शत्रुघ्न की भी एक-दूसरे पर परम आस्था थी। यह किसी ने किसी को सिखाया नहीं था, जरूरत भी नहीं थी। सब सहज था। लक्ष्मण ने राम को और शत्रुघ्न ने भरत को अपना नायक या मार्गदर्शक माना था। उसका कारण था। रामायण में दर्शित बंधुप्रेम की आदर्श, सनातन जोड़ियाँ थीं। राम कभी अकेले का विचार नहीं करते थे। यही हालत भरत और शत्रुघ्न की थी। राम या लक्ष्मण में से किसी को कोई आवाज दे या बुला ले, तो दोनों ही 'जी हाँ' कहकर अपने कक्ष से बाहर आते थे। ननिहाल जाते समय राम अपने तीनों भाइयों को साथ लेकर ही जाते थे। आज भी दो भाइयों को या उनके प्रेम को देखकर 'राम-लक्ष्मण' कहने की प्रथा है। राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न भारतीय संस्कृति में बंधुप्रेम के अनुकरणीय आदर्श माने जाते हैं।

समय किसकी प्रतीक्षा करता है? धीरे-धीरे इन चारों भाइयों की बचपन की लीलाएँ मधुर स्मृतियों का विषय होने लगीं। 'ठुमकि चलत' राम बड़े हुए, उनके भाई भी बड़े होने लगे। चारों ही क्षत्रियों की परंपरा के अनुसार शस्त्रास्त्र और युद्ध-विद्या की शिक्षा लेने लगे। चारों ही विनयी थे, यशस्वी थे। चारों वेदवेत्ता, पराक्रमी, जनकल्याण में तत्पर, ज्ञानी, गुणशाली और तेजस्वी थे। इनमें महातेजस्वी और महापराक्रमी राम निर्मल चंद्रमा की तरह धीरे-धीरे जनता में प्रिय होने लगे। वाल्मीकि कहते हैं कि वह (राम) गजारोहण, अश्वारोहण और रथ-संचालन में निपुण, धनुर्विद्या सतत परिश्रम/स्वाध्याय करने वाला तथा पितृसेवा में (अत्यंत) तत्पर था—

गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु संमतः।
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः॥

(बालकांड, सर्ग १८/२७)

अपने ज्येष्ठ भ्राता राम की तरह लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न भी सर्वविद्याप्रवीण

तथा लोकप्रिय थे। सभी भाई गुण-विनय से संपन्न, धनुर्विद्या में प्रवीण, दूरदर्शी, पितृभक्त तथा अत्यंत तेजस्वी थे। ऐसे गुणशाली पुत्र पाकर दशरथ के आनंद का ठिकाना नहीं था। जैसे-जैसे चारों भाई बड़े होने लगे, वैसे-वैसे दशरथ के ही अपितु राजघराने के सदस्यों और राजगुरु, उपाध्यायों के मन में भी इनके चार हाथ करने के संबंध में विचार-चक्र घूमने लगा। इन राजपुत्रों का अब विवाह-संस्कार हो जाना चाहिए। कौन-कौन राजकन्याएँ इनके योग्य होंगी या विवाह का सुयोग कब होगा? इस संबंध में मंत्रिमंडल में भी चर्चा होने लगी। किंतु भाग्य की करनी कुछ और ही थी। इधर महाराजा दशरथ राजभवन के सभागार में बैठकर मंत्रियों के साथ राजपुत्रों के विवाह के संबंध में विचार कर रहे थे। उसी सभागार के महाद्वार पर एक अत्यंत तेजस्वी ऋषिवर उपस्थित हुए। वे कौन थे—

तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मन।
अभ्यागच्छन् महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥

(बालकांड, सर्ग १८/३८)

महात्मा दशरथ (अपने) मंत्रियों के साथ (विवाह का) विचार कर ही रहे थे कि अत्यंत तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी वहाँ पर पधारे।

घोर तपस्या किए हुए तथा अपरिमित तेजयु विश्वामित्रजी को प्राचीन काल में सभी राजघराने अत्यंत आदर से देखते थे, उनके असीम तेज और पराक्रम से कुछ हद तक भयभीत भी रहते थे। ऐसे राजर्षि विश्वामित्र का अयोध्या में आकस्मिक आगमन रामायण में, विशेषकर राम के जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। राजा दशरथ भले ही अपने पुत्रों के विवाह की चिंता कर रहे हों, भाग्य ने उनके भविष्य की अलग ही योजना बना रखी थी। विश्वामित्र का यों अकस्मात् प्रकट हो जाना दशरथ के लिए एक कसौटी ही बन गया। यह मुलाकात राम के भावी आयुष्य में एक तरह से अलग परिणाम देने वाली सिद्ध होनी थी। विश्वामित्र के मिलने से राम के प्रताप का साक्षात् परिचय राक्षसों के शासन को पहली बार ही होने वाला था। विश्वामित्र के कारण भगवान् राम अस्त्र विद्या में अधिक प्रवीण और बलशाली हुए। दशरथ को पुत्रों के विवाह की जो चिंता थी, वह इस भेंट से दूर होने वाली ही थी, किंतु राक्षसों के संहार के साथ ही जनक के राजभवन में रखे धनुष को भंग करने से सीता की प्राप्ति के साथ श्रीराम की अतुलनीय सामर्थ्य भी त्रिलोकी में विश्रुत हो गई। विश्वामित्र से राम की भेंट होने, इन परिणामों को देखकर 'लोककंटक' बने रावण का वध इसी राम के द्वारा हो सकेगा, ऐसा विश्वास जनमानस में दृढ़मूल हुआ। शायद रावणवध की प्राथमिक तैयारी के लिए ब्रह्मा ने विश्वामित्र का अयोध्या आगमन पूर्वनियोजित किया हो।

इसीलिए समाज में तपस्वी, निरपेक्ष और निस्पृह संतसत्ता का निरंतर बने रहना आवश्यक माना जाता है। लौकिक उपभोग और सुख से विमुख होकर पूरी-की-पूरी उम्र को तपश्चर्या में झोंक देने से तपस्वियों को जो दिव्य शक्ति प्राप्त होती है, उसी आधारशिला पर समाज में सात्त्विकता, शुभ-चिंतन, सदाचरण और मंगल का उद्घोष टिका रहता है, यह सत्य हमें भूलना नहीं चाहिए। दसों दिशाओं से उठने वाले तापसी विकारों तथा अनैतिक अनाचार की तूफानी आँधी में भी इन्सानियत का जो दीपक जलता हुआ दिखाई देता है, उसका कारण युग-युगों से किया जा रहा तपस्वी-चिंतन ही है। तपस्वी विश्वामित्र के अयोध्या-आगमन से रामायण काल में कितनी विस्मयकारी घटनाएँ हुईं, कितने चमत्कार हुए, हम उनसे विश्वामित्र की योग्यता का अनुमान कर सकते हैं।

□

अतिथि देवो भव

सैकड़ों कोशिशों और निवेदनों के बावजूद जो कभी किसी के दरवाजे पर नहीं जाते थे, वे ही विश्वामित्र ऋषि बिना किसी निमंत्रण के महाराजा दशरथ के राजमहलों तक पहुँच जाने से दशरथ के साथ-साथ उनके अमात्यों और मंत्रियों के आश्चर्य का कोई पार न रहा। महर्षि विश्वामित्र के पधारने की खबर ड्योढ़ीदार से मिलते ही दशरथ आनंदित हुए और राजसी ठाट-बाट से उनका स्वागत करने के लिए, लगभग उतावली में ही मुख्य दरवाजे की ओर चल दिए। उनके पीछे-पीछे कुलगुरु वसिष्ठ और अमात्य हो लिये। महर्षि की तपस्या का प्रभाव भी वैसा ही था।

दशरथ को महर्षि विश्वामित्र कैसे प्रतीत हुए, उसका वर्णन वाल्मीकि कर रहे हैं—

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्॥

(बालकांड, सर्ग १८/४३)

अर्थात् तेजोवलयों से जाज्वल्यमान तथा निर्मल आचरण से युक्त तपोनिधि विश्वामित्र को देखकर आनंदित दशरथ ने उनकी पूजा करने के लिए सामग्री मँगवाई।

पूजा का सब सामान आने पर दशरथ के द्वारा राजसी वैभव के साथ कुलगुरु के निर्देशन में की गई पूजा और आदर-सत्कार को ऋषि विश्वामित्र ने स्वीकार किया तथा कुशल-मंगल जानने के लिए दो-चार सवाल पूछे। अपने प्रश्नों का संतोषप्रद जवाब मिलने पर विश्वामित्रजी कुलगुरु वसिष्ठ तथा अन्य ऋषियों से मिले। ऋषियों से थोड़ी देर विचार-विनिमय करने पर उन सबके साथ राजर्षि विश्वामित्र दशरथ के राजमहलों में चले गए। महर्षि विश्वामित्र जैसे महान् तपस्वी और महात्मा स्वयं ही चलकर अपने घर आए; इस बात से महाराजा दशरथ इतने प्रभावित हुए कि क्या करें, क्या न करें—यही

उन्हें सूझ नहीं रहा था। इन महर्षिजी का गुणगौरव कैसे करें, अपने सौभाग्य की किससे तुलना की जाए, अपना आनंद कैसे और किन शब्दों में अभिव्यक्त करें, इसी उधेड़बुन में दशरथ फँसे रहे। इसलिए उनके सामने पड़ते ही वह अध-बावला से हुए। अत्यानंद से महर्षि की स्तुति में वह कहने लगे—

यथामृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूद के।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्मा प्रजस्य वै॥
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः।
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने॥

(बालकांड, सर्ग १८/५०-५१)

अर्थात् आपका आगमन मेरे लिए अमृत की प्राप्ति, सूखे या अकाल-पीड़ित प्रदेश में वर्षा, अनुरूप पत्नी का लाभ, संतानहीन व्यक्ति को (होनेवाली) पुत्र-प्राप्ति, खोई हुई (बहूमूल्य) वस्तु का फिर से मिलना अथवा महोत्सव में होनेवाले आनंद की तरह है। हे महामुनि! आपका स्वागत है।

इन भावपूर्ण वचनों से विश्वामित्र के आगमन की घटना को दशरथ कितनी सौभाग्यशाली मान रहे थे, इसकी कोई कल्पना नहीं कर सकेगा। वैसे भी महाराजा दशरथ उदार, निष्कपट, शत्रुबुद्धि से रहित तथा तपस्वियों के स्वागत को अपना महद्भाग्य समझनेवाले थे। द्वार पर आनेवाले अतिथियों का निर्मल/निस्पृह भावना से स्वागत करना और उनकी मनोकामना पूरी करना 'रघु-कुल रीत सदा चली आई' थी। सम्राट् दिलीप या रघु ने भी 'अतिथि देव' की परंपरा की बड़े यत्नों से हिफाजत की थी। दशरथ उसी परंपरा के उत्तराधिकारी थे। इसलिए मेहमाननवाजी की उनमें उत्सुकता होना कोई आश्चर्य नहीं है। यहाँ तो अतिथि के रूप में प्रत्यक्ष तपोमूर्ति विश्वामित्र आए थे। फिर अतिशय आनंद होना सहज, स्वाभाविक ही था।

अतिथि अर्थात् अ तिथि, जिसके आने की कोई तिथि या दिन निश्चित नहीं हो, वह अतिथि है। नास्ति तिथिर्यस्य, जिसके आने का कोई समय, तिथि या दिन निश्चित न हो। बिना किसी सूचना के अकस्मात् जो दरवाजे पर प्रकट हो जाए, वह अतिथि कहलाता है। अमरकोश के अनुसार घर आने वाला कोई भी व्यक्ति हो, वह अतिथि है। अतिथि की एक और परिभाषा भी मान्य है—अर्ताव सततं गच्छामि अथवा अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः। अविराम रूप से चलते रहनेवाला शीघ्रता से बिना रुके चलने वाला या पथिक भी अतिथि कहलाता है।

अतिथि शब्द की विभिन्न व्याख्याओं का यहाँ जानते-बूझते हुए भी उल्लेख किया गया है। 'अतिथि देवो भव' यह हमारी संस्कृति की परंपरा है। किसी भी समय

आनेवाले अपरिचित व्यक्ति को भी देवता मानकर स्वागत करें—मधुर, स्नेहशील वाणी से; अपनी क्षमता के अनुसार उसका आदर सत्कार करें और आगत की इच्छा पूरी करने का यथाशक्ति प्रयास करें, यह संस्कृति का विधान है। अपने रिश्ते में या जान-पहचान के लोगों में से कोई आए तब प्रसन्नता से उनका स्वागत करते हैं तो क्या आश्चर्य है? किंतु जो अपना नहीं है, कोई रिश्ते-नातेदार नहीं है, न पहचान का और न ही अपनी बराबरी का, फिर भी वह अपने दर पर आए तो इनसानियत के नाते बड़े उत्साह और आनंद के साथ हमें तत्पर रहना चाहिए। यह मानव-धर्म है, इसीलिए अतिथि सत्कार के संस्कार का बीज अंकुरित करते रहने का हमारे पूर्वजों ने निर्देश दिया है। परस्पर के लिए आत्मीयता, अखिल प्राणियों के लिए भूतदया और मानवधर्म की भावनाओं का सतत पोषण हो, इस दृष्टि से अतिथि देव का संस्कार सप्रयोजन पल्लवित किया गया। इतना ही नहीं, ऐसे संस्कारों को धार्मिक रूप देकर उससे पुण्यप्राप्ति का वरदान भी दिया गया। कम-से-कम पुण्य के लिए ही सही, लोग इनसानियत का फर्ज निभाते रहें।

महर्षि विश्वामित्रजी के पधारने से उत्साहित हुए दशरथ यह तय ही नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें क्या समर्पित किया जाए और क्या नहीं किया जाए। दशरथ यह मान रहे थे, मानो विश्वामित्र के रूप में प्रत्यक्ष परब्रह्म ही राजभवन में प्रकट हुआ हो। इसी उदात्त भावना से प्रेरित होकर दशरथ महर्षि से कहने लगे—हे महर्षि आपका मुख्य कार्य कौन सा है, आप मुझे आदेश दें। हे ब्राह्मण! मेरी ओर से सब प्रकार की सेवा ग्रहण करने के आप योग्य हैं, आपका मेरे घर पधारना मेरा अहो भाग्य है—

अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम्।
यस्माद्विप्रेन्द्रद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम॥

(बालकांड, सर्ग १८/५३)

अर्थात् आज मेरा जन्म सफल हुआ, जीवन सार्थक हो गया है। आपके जैसे श्रेष्ठ विप्र का दर्शन होने से ही मेरे जीवन का यह सुदिन उदित हुआ है।

''इससे पूर्व राजर्षि के रूप में देदीप्यमान आप अब ब्रह्मर्षि के रूप में अधिमान्य हैं, इसलिए अनेक दृष्टियों से आप मेरे लिए पूज्य हैं। आपका अन्यन्य पवित्र आगमन परम आश्चर्य है। हे प्रभु! आपके पुण्य दर्शन से मुझे वह फल मिला है जो किसी तीर्थ क्षेत्र पर जाने से ही मिलता है।''

बिना बुलाए, बिना निमंत्रण किसी के यहाँ न जाने का शिष्टाचार है। बुद्धिमान और प्रतिष्ठित व्यक्ति आज भी इस शिष्टाचार में विश्वास रखते हैं और उसका पालन करते हैं। निमंत्रण के बिना किसी के घर या किसी के विवाहादि समारोह में जाने से यजमान के द्वारा अनामंत्रित व्यक्तियों का कैसे अपमान हुआ या कैसी अप्रतिष्ठा हुई?

इसकी रस-भीनी सैकड़ों कहानियाँ-किस्से प्राचीन और वर्तमान साहित्य में देखने को मिलते हैं। महर्षि विश्वामित्र इतनी सामान्य बात तो जानने ही थे! दशरथ के यहाँ बिना निमंत्रण के जाने पर वे प्रसन्न ही होंगे, यह आत्मविश्वास महर्षि के मन में था।

किंतु इतने बड़े महर्षि बिना निमंत्रण के एकाएक दशरथ के यहाँ क्यों गए? अर्थात् विश्वामित्रजी का जरूर कोई उद्देश्य रहा होगा। अपना स्वाध्याय, तपस्या और दैनिक अनुष्ठान छोड़कर दशरथ के दर्शनार्थी बनकर जानेवाले वे कोई बेबस, लाचार याचक तो थे नहीं। वे तो आश्रमवासी, निरीच्छ और निस्पृह, ऋषियों में श्रेष्ठ तेज:पुंज से शोभायमान तपस्वी थे। उनके इस तरह आने में कोई-न-कोई तो प्रयोजन था ही, क्योंकि बिना प्रयोजन के मंदबुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। क्या संवेदनशील महाराजा दशरथ महर्षि के प्रयोजन को समझ पाए थे?

□

राम मिलें तब यज्ञ बचें

महाराजा दशरथ मूलतः उदार और निर्मल स्वभाव के तथा ऋषि-मुनियों के सम्मुख हमेशा विनम्र वृत्ति के थे। उनका व्यवहार सदाचरणयुक्त, धर्मशील तथा सत्यनिष्ठ था। ऐसे व्यक्ति के समक्ष महर्षि विश्वामित्र जैसे महान् तपस्वी अकस्मात् उपस्थित होने पर उसकी मानसिक दशा कैसी हुई होगी? परंतु राजा कैसा भी भावनाशील हो, राजधर्म का पालन तो उसे करना ही होता है, किंतु यहाँ परिस्थिति दूसरी ही हो गई। विश्वामित्र के आने पर वे किसलिए आए, यह समझना तो दूर रहा, दशरथ ने उनकी इच्छा के अनुसार सभी कार्य पूरे करने का आश्वासन भी दे डाला।

अपने घर आनेवाले अतिथि को 'आपकी क्या आज्ञा है? या क्या हुक्म है' विनम्र भाव से ऐसा पूछने की रीत है। पर यहाँ आज्ञा या हुक्म का अर्थ कामना या इच्छा मात्र लिया जाता है। इसलिए दशरथ द्वारा दिए गए आश्वासन को हमें व्यवहार के प्रतिकूल कहना मुश्किल होगा। 'आज्ञा' का अर्थ दशरथ के मन में भी ऋषि की कामना से ही था। दशरथ स्वयं सम्राट् और दानवीर थे। ऐसे हालात में विश्वामित्र की ऐसी क्या कामना हो सकती थी, जिसे दशरथ पूरा न कर पाते। विश्वामित्र थे तो वन में निवास करनेवाले ऋषि ही न? अधिक-से-अधिक वे माँग भी क्या सकते थे! इसलिए उदार हृदय दशरथ को यह लगा होगा कि इतने बड़े महर्षि की कोई कामना हो भी, तो उसे वे आराम से पूरी कर देंगे। इसी बहाने ऋषिवर की सेवा का कुछ अवसर ही मिलेगा, ऐसा दशरथ का सोचना शायद ठीक ही था।

और यहीं पर रामायण और रामचरित्र का प्रवाह एक नया मोड़ लेता है। दरअसल, महर्षि वाल्मीकि के अकस्मात् अयोध्या आगमन की घटना ही रामकथा का उपोद्घात कर जाती है। महर्षि विश्वामित्र के आगमन का उद्देश्य समझने से पहले ही कार्यपूर्ति का दशरथ के द्वारा दिया गया आश्वासन और विश्वामित्र राजा के समक्ष एकमात्र माँग रखना—इन दो घटनाओं के बीच चार अक्षरयुक्त (रा मा य ण) रामायण का रहस्य छिपा हुआ है।

महाराजा दशरथ विश्वामित्र ऋषि से निवेदन करते हैं—

ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति।
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थं परिवृद्धये॥
कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत।
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम॥
मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज।
तवागमनज कृत्स्नो धर्मस्वानुत्तमो द्विज॥

(बालकांड, सर्ग १८/५६-५८)

अर्थात् कृपया बताइए कि किस प्रयोजन से आपका आगमन हुआ है ? अपना कार्य बताकर मुझे अनुगृहीत करें, ऐसी मेरी इच्छा है। हे सुव्रत! आपका जो कुछ कार्य हो, बिना किसी संकोच के बताएँ। आप मेरे देवता हैं, आपका कार्य निश्चित रूप से संपन्न करूँगा। हे ब्राह्मण! आपके आने से मेरे संपूर्ण पुण्यों का उदय हुआ है।

महाराजा दशरथ को इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि वे किस हस्ती को और क्या वचन दे रहे हैं ? विश्वामित्र को देखते ही वे अपना तारतम्य खो बैठे और एक के बाद एक वचन देते रहे। महर्षि विश्वामित्र कब आदेश दें और जल्दी-से-जल्दी उसकी पूर्ति कर दें, दशरथ की ऐसी मानसिक स्थिति हो गई थी।

किसी राजा से कुछ माँगने से पहले ही वह देने के लिए शीघ्र तत्पर हो जाएँ तो माँगने वाले की जो स्थिति होगी, ठीक वही स्थिति विश्वामित्र की थी। उनके आनंद का भी कोई ठिकाना नहीं था। मान लें कि वे किसी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए याचना करनेवाले होते तो उन्हें संकोच भी होता, पर वे किसी व्यक्तिगत इच्छा या कामना लिये हुए तो आए नहीं थे, इसलिए वे बिना किसी संकोच के ही आए हुए थे और उस पर दशरथ ने भी कहा—निस्संकोच होकर आदेश दें। फिर क्या कहना और क्या पूछना! विश्वामित्र आनंदित, पूर्णत: आश्वस्त हो गए।

ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था। दशरथ दानशीलता के लिए प्रसिद्ध थे। उसके सत्य वचन होने की कीर्ति दिग्-दिगंत में लहरा रही थी। अत: विश्वामित्र को मन-ही-मन यह लगने लगा कि यही राजा अपनी मनोकामना पूर्ण करेगा। राजा दशरथ के आश्वासन से पुलकित हुए विश्वामित्र कहने लगे—

हे नरोत्तम! उच्च कुल में जन्म लेकर महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा को प्रमाण माननेवाले तुम्हारे लिए ही इस प्रकार की भावनात्मक अभिव्यक्ति करना शोभादायक है। हे राजन्! मुझे अपने मन की इच्छानुसार जो कुछ (भी) कहना है, उसे पूर्ण करने का पहले आप निश्चय कर लें तथा अपने वचन की सत्यता को प्रमाणित करें। यज्ञ संपन्न

करने के हमने दीक्षा ली है, परंतु अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकनेवाले दो राक्षस यज्ञ में बार-बार विघ्न उपस्थित कर रहे हैं। कई बार जब दीक्षा-व्रत पूरा होने को था तो यज्ञ समाप्ति के समय मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षस यज्ञ वेदी में मांस और खून का छिड़काव करते हैं। यज्ञ दीक्षा और यज्ञ का इस प्रकार से सर्वनाश होते देख थका सा निरुत्साहित होकर मैं वह भूभाग छोड़कर दूसरी जगह चला जाता हूँ। यज्ञ करनेवाले को वह शाप देकर राक्षसों का विनाश करने के प्रवृत्त हो यह उचित नहीं है। अतः मेरा मन इसके लिए तैयार नहीं होता है। इसलिए हे श्रेष्ठ राजन्!

स्वपुत्रं राजशार्दूलं रामं सत्यपराक्रमम्।
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि॥

(बालकांड, सर्ग १९/९)

अर्थात् हे राजाओं में श्रेष्ठ दशरथ! बड़े-बड़े बालों को धारण करने वाला, सिद्ध-पराक्रमी, वीर जैसा अपना ज्येष्ठ पुत्र राम मुझे सौंप दीजिए।

अपनी यह मनोकामना प्रकट कर ही विश्वामित्र नहीं रुके, पर राम कौन है, उसकी क्या सामर्थ्य है तथा वे स्वयं राम को कैसे और कितना जानते हैं, यह बताते हुए आगे कहने लगे—"राजन्! आपके पुत्र अपने दिव्य तेज से यज्ञ का विनाश करने वाले उन दो राक्षसों का वध करने में समर्थ हैं। अनेक प्रकार से मैं आपके पुत्र का कल्याण करूँगा, जिससे तीनों लोकों में उसका यश फैलेगा। राम के सामने होने पर वे दोनों ही राक्षस युद्ध में टिक नहीं सकेंगे। और तो और, राम के अलावा अन्य किसी भी युद्ध में उन राक्षसों का सामना करने की हिम्मत नहीं है।" महर्षि फिर मुखरित हुए—

यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि।
स्थिरनिच्छसि राजेन्द्र! रामं मे दातुमर्हसि॥ १६ ॥

"हे राजश्रेष्ठ! यदि धर्माचरण करते हुए पृथ्वी पर अपनी उत्तम कीर्ति को आप चिरस्थायी बनाना चाहते हैं तो राम को मुझे सौंप दें।"

राम को प्राप्त करने की अपनी माँग शायद दशरथ को रुचिकर न लगी हो या पुत्र-प्रेम के कारण वह न भी स्वीकार करें, इस विचार से शंका मन में आने पर महर्षि विश्वामित्र दशरथ से कहने लगे—राजन्! इस समय आप पुत्र-मोह में न पड़ें। प्रतिज्ञापूर्वक मैं कहना चाहता हूँ कि राक्षसों का वध हुआ है ऐसा मानिए। सत्यपराक्रमी महात्मा राम को मैं जानता हूँ और ये महातेजस्वी वसिष्ठ महर्षि भी जानते हैं। यदि मेरी माँग का वे समर्थन करते हैं तो मुझे राम सौंप दीजिए। यज्ञ संपन्न होने की दस दिन की अवधि तक राम को सौंप दें। हे रघुकुल शिरोमणि दशरथ! मेरे यज्ञ का कालातिक्रमण न हो, ऐसी

व्यवस्था आप करें। मन में दु:ख न करें। इसी में आपका कल्याण है।

"मन में किसी भी तरह का संकोच न करते हुए जो इच्छा हो, आप कहिए, उसे मैं पूरी करूँगा।" ऐसा दशरथ से पहले ही आश्वासन मिलने से किसी शंका या संकोच के बिना विश्वामित्र ने अपने आने का प्रयोजन बताकर उस राम को भी माँग लिया, जिसमें दशरथ के प्राण बसते थे। ऐसी माँग हो सकती है, इसकी दशरथ को कोई कल्पना ही नहीं थी, न ऐसा विचार भी उनके मन में कौंध सकता था। महर्षि विश्वामित्र ने जिस प्रयोजन से और जिस अधिकार से राम को ही माँग लिये उससे दशरथ की क्या हालत हुई होगी?

□

राम मत ले जा जोगी!

महाराज दशरथ से पूरा आश्वासन मिलने पर महर्षि विश्वामित्र ने बिना किसी संकोच के सीधे दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम की माँग ही सामने रख दी। उन्होंने किसी भी तरह की भौतिक समृद्धि की माँग नहीं की। उन्हें जरूरत भी नहीं थी। माँगा तो राम, सिर्फ राम ही। यदि महर्षि राम को न माँगकर दशरथ का सारा साम्राज्य माँगते तो एक क्षण का भी विलंब किए बिना वह दे डालते। सर्वस्व दान करने की रघुवंश की परंपरा ही थी, पर हाय!

दानशीलता के लिए रघुवंश की कीर्ति पहले से ही दिगंत में व्याप्त थी। उसे देखते हुए महाराजा दशरथ से राम की माँग तो कोई खास माँग थी ही नहीं, पर सारा रहस्य इस माँग में ही छिपा था। दशरथ के संतति ही नहीं हो रही थी, हुई भी तब जब वृद्धावस्था उनका स्वागत करने के लिए आतुर हो उठी थी। इसलिए उसका सारा स्नेह, सारा प्रेम राम में ही अटका था। इधर सत्यवचनी वंश के सत्यभाषी दशरथ विश्वामित्र को वचन दे चुके थे। 'प्राण जाई पर वचन नहिं जाई।' रघुवंश की रीति थी, आन थी, प्रतिष्ठा थी। ऐसे में विश्वामित्र द्वारा ज्येष्ठ आत्मज राम की ही माँग करने पर दशरथ की क्या हालत हुई होगी? महर्षि के शब्दों में देखिए—

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवच: शुभम्।
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च।
लब्धसंज्ञस्ततोत्थाय व्यषीदत भयान्वित:॥

(बालकांड, सर्ग १९/२०-२१)

अर्थात् विश्वामित्र महर्षि के ये शुभ वचन सुनते ही महाराजा दशरथ का शरीर काँपने लगा और वे बेहोश हो गए। कुछ ही समय में वे होश में तो आ गए, पर (राक्षसों के) भय से वे हताश से नजर आए।

"यज्ञ की सुरक्षा के लिए राम को मुझे सौंप दीजिए", यह विश्वामित्र के बोल कान में पड़ते ही दशरथ के मन को बड़ा धक्का सा लगा। जो माँगोगे सो दूँगा, पहले ही यह कहकर वह आश्वासन देकर अपने वचन में फँस गए थे, उधर राम उनके प्राण ही थे। दिए हुए वचन को भंग नहीं किया जा सकता था। विश्वामित्र ऐसी माँग करेंगे इसकी तो कल्पना भी नहीं थी। राम को अपनी आँखों से दूर करने का साहस दशरथ में नहीं था। सामने शीघ्र ही क्रोधित होनेवाले दिव्य तेजस्वी विश्वामित्र थे। इस परिस्थिति का काल्पनिक चित्र आँखों के सामने आते ही दशरथ की असहाय अवस्था को हम समझ सकते हैं।

"आप जो कार्य कहेंगे उसे मैं पूरा करूँगा।" यह कहकर दशरथ वचनबद्ध हो चुके थे, इसलिए विश्वामित्र द्वारा राम की माँग रखते ही उन्हें तुरंत राम को बुलाकर सौंप देना चाहिए था। वह सत्यवचनी थे। पर ऐसा नहीं हुआ, हो नहीं सका। अब वह राम के पिता थे, इसलिए ऐसा कर नहीं सके। उनकी पुत्र-वत्सलता, पिता का सहज स्नेह-भाव जाग्रत् हुआ, उन्होंने रघुवंशी वचनों की सत्यता को आसानी से मात दी थी। महाराजा दशरथ के होश में आने पर उनसे निवेदन करने लगे—

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः॥

(बालकांड, सर्ग २०/२)

"यह कमल नयन राम अभी सोलह साल का भी नहीं हुआ है। मेरी समझ में राक्षसों से युद्ध करने के योग्य वह अभी नहीं हुआ है।"

राम को ले जाना क्यों श्रेयस्कर नहीं है यह बताते हुए दशरथ अब अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कुछ कारण बता रहे हैं, कुछ बहाने भी—"राम की उम्र कम है और उसे युद्ध का कोई अनुभव नहीं है, पूरी शस्त्रास्त्र विद्या का वह जानकार भी नहीं। क्योंकि उसका विद्यार्जन अभी अपूर्ण है। अभी वह बच्चा है, युद्ध के लिए आवश्यक निपुणता की भी उसमें कमी है। इसलिए हे मुनिवर! आप राम को नहीं ले जाइएगा। अयोध्या की एक अक्षौहिणी सेना है, अधिपति मैं स्वयं हूँ। इस सेना को साथ लेकर मैं उन राक्षसों का सामना करूँगा। मेरे पराक्रमी व शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण ये सैनिक राक्षसों से युद्ध करने में समर्थ हैं।"

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि।
यावत्प्राणान्धरिष्यामि तावद्योत्स्ये निशाचरैः॥

(बालकांड, सर्ग २०/५)

अर्थात् रणांगण मैं स्वयं धनुष-बाण लेकर यज्ञ का रक्षण करूँगा, जब तक शरीर में प्राण रहेंगे, मैं राक्षसों से दो-दो हाथ करता रहूँगा।

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि॥

(बालकांड, सर्ग २०/६)

"मैं आपके साथ ही चल पड़ता हूँ, ताकि आपकी यज्ञ-दीक्षा सुरक्षित होकर बिना किसी बाधा के संपन्न होगी।" इतना कहकर भी दशरथ नहीं रुके। वे कहते गए—"हे ब्रह्मनिष्ठ सदाचरणशील मुनिवर! यदि रघुवंश में जन्म लिये राम को ही साथ ले जाने की आपकी इच्छा है तो चतुरंगिणी सेना के साथ मुझे ले चलिए। फिर भले ही राम को भी लीजिए। हे कौशिक मुनि! बहुत वर्षों तक कष्टमय प्रतीक्षा के बाद मुझे राम मिला है। इसलिए आप (अकेले) राम को साथ मत ले जाइए।"

पुत्रमोह में पिता किस हद तक प्रभावित हो सकता है, इसका प्राचीन, स्पष्ट उदाहरण रामायण में दशरथ हैं। राजसभा में अपने कुलगुरु वशिष्ठ, ऋषिमंडल के अन्य सदस्य, अमात्य और मंत्रिगण, राजधानी के प्रतिष्ठित सामंतों की साक्षी में महर्षि विश्वामित्र को दिए हुए वचन दशरथ पुत्र-मोह में फँसकर भूल जाते हैं या उससे मुँह मोड़ लेते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है? कुलगुरु क्या कहेंगे, विश्वामित्र क्या सोचेंगे और वचन भंग करने से रघुकुल की प्रतिष्ठा पर आँच आएगी; ऐसे विचार भी दशरथ को स्पर्श नहीं कर पाए। राम पर उनका कितना निस्सीम स्नेह है, यह विश्वामित्र और वशिष्ठ जैसे गुरुजनों के समक्ष बताने में दशरथ को जरा भी संकोच नहीं हुआ। पुत्र का मोह कैसे व्यामोह बनता है और वह कैसे बुद्धि नाश करता है, इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है—दशरथ का वचनभंग। मानो इस वचनभंग के औचित्य को ही दशरथ स्पष्ट करना चाहते हैं—

चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥
ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि॥
किं वीर्याः राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च केचते।

"मेरा चारों ही पुत्रों पर (समान) स्नेह है, पर ज्येष्ठ होने के नाते राम पर परम प्रीति है। (इसलिए भी तथा) धार्मिक दृष्टि से भी (वह) श्रेष्ठ है, अतः कृपया आप उसे न ले जाएँ। उन राक्षसों की सामर्थ्य कितनी है? वे कौन हैं? किनके पुत्र हैं?"

जो विश्वामित्र के साथ किसी भी स्थिति में राम को न भेजने का निर्णय दशरथ

लगभग ले चुके थे, अब उन राक्षसों के विवरण के बारे में (भी) वे विश्वामित्र से पूछने लगे—"हे मुनिश्रेष्ठ! उन राक्षसों की आकृति कैसी है? उनका रक्षण करनेवाले कौन हैं, यह बात तो समझाइए। हे विप्र! छल-छद्म से युद्ध करने वाले राक्षसों का सामना राम के द्वारा मेरे सैन्य के अथवा मेरे द्वारा कैसे होगा? क्योंकि राक्षण पराक्रम से उन्मत्त हुए ही रहते हैं। उन दुष्ट बुद्धि राक्षसों के सामने हम भी कैसे टिक सकेंगे, इसे आप थोड़ा सा विस्तार से बताने की कृपा करें।"

दशरथ का यह निवेदन स्वीकार करते हुए रावण के कुल की जानकारी देकर बताया कि ब्रह्मा के वरदान के कारण वह अवध्य है तथा उसी की आज्ञा से मारीच और सुबाहु यज्ञ में विघ्न पैदा कर रहे हैं। तब दशरथ स्पष्ट रूप से बोले, रावण का सामना मैं नहीं कर सकूँगा। आप मेरे पुत्र पर दया कीजिए। रावण के सामने देव-गंधर्व भी निरूपाय हो गए हैं। मनुष्य उसका क्या बिगाड़ सकता है। अतः राम अभी बच्चा ही है। उसे मैं नहीं दूँगा।

बालं मे तनयं ब्रह्मन्! नैव दास्यामि पुत्रकम्।

(बालकांड, सर्ग २०/२५)

□

दीजिए राम बिना सकुचाई

महाराजा दशरथ सत्यवचनी, सत्यनिष्ठ, सत्यभाषी सबकुछ थे। पर उनकी जान राम में अटकी रहती थी। राम उनके लिए सबकुछ थे। उसी राम के लिए महर्षि विश्वामित्र ने जब माँग रखी तब दशरथ के पैरों तले की धरती खिसकने लगी। बड़ा जोर का सदमा लगा था, क्योंकि थोड़ी देर पहले ही वे कह चुके थे—आप जो माँगेंगे सो दूँगा। दशरथ अपने वचन को भूल गए, आदमी तो थे। साफ नकार गए—हम राम को नहीं देंगे।

मोह की ऐसी अवस्था में निर्णय लेने का काम धर्म किया करता है। रघुवंश की प्रतिष्ठित परंपरा और दशरथ की सत्यनिष्ठा की कीर्ति व्यापक होते हुए भी वह पुत्रमोह में तड़फड़ा रहे, ऐसी दयनीय स्थिति हो गई थी। विश्वामित्रजी क्या चाहते हैं, यह समझने से पहले ही उन्हें कामनापूर्ति का वचन देना वास्तव में दशरथ की भूल ही थी। अपनी परंपरा, यश और विश्वामित्र जैसे तपस्वी की सामर्थ्य को भी अनदेखा करते हुए राम को नहीं देने के उनके निर्णय की पुष्टि तो की नहीं जा सकती थी, न वह न्यायसंगत होती, पर हम यह कैसे भूल सकते हैं कि दशरथ सर्वप्रथम मनुष्य थे, महायोगी नहीं। बुढ़ापे की संतान के लिए उनके मन में कोमल भावनाएँ होना स्वभावसिद्ध, सहज था। फिर भी वह अयोध्या के शासक हैं, इसे भूलना नहीं चाहिए था। कितना ही कुटुंब-वत्सल हो, शासक को तो 'प्रजापालक' के रूप में ही जनता पहचानती है और विश्वामित्र महर्षि हुए तो क्या, थे तो प्रजाजन ही न? यज्ञ की सुरक्षा के लिए वे फिर किससे मदद माँगते और आखिर किससे शिकायत करते? राजा से ही न? वे कोई अपनी गृहस्थी के लिए पैसा या जमीन माँगने तो दशरथ के पास नहीं आए थे। इसलिए पुत्र मोह से ग्रस्त होकर की जानेवाली मनाही पर उन्हें कुछ सोच-विचार करना ठीक था। पर वे वचन को विस्मृत से कर गए। राम अपनी नजर से क्षण भी दूर न हो, इसलिए उसके भविष्य को यत्किंचित् भी विचार किए बिना कह दिया—न दास्यामि।

महाराजा दशरथ अपनी माँग पूरी कर ही देंगे, इस आशा से विश्वामित्र आए थे।

कुछ माँगने से पहले ही कार्यपूर्ति के बड़े-बड़े आश्वासन मिल गए। फिर क्या था? उनका उत्साह दुगुना हो गया और आकांक्षा भी बढ़ गई तो क्या आश्चर्य? लेकिन प्रत्यक्ष में माँग रखने पर कई कारण बताकर बहाने करते हुए राम के लिए मना कर दिया। विश्वामित्र का अचानक ही मोह भंग हुआ। वे दशरथ पर नाराज भी हुए। उनका सारा जोश ठंडा पड़ गया।

पुत्र मोह में बोलते हुए दशरथ का उच्चारण भी अस्पष्ट सा, लड़खड़ा रहा था। उनकी 'नहीं-नहीं' सुनकर महर्षि विश्वामित्र एकाएक क्रोधित हो गए, शरीर क्रोध से थरथराने लगा, आँखें लाल हो गईं। संतप्त मुनिवर उबल पड़े—

पूर्वमर्थं प्रतिमुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि।
राघवाणामयुक्तो ऽयं कुलस्थास्थ विपर्ययः॥
यदिदं ते क्षमं राजन्! गमिष्यामि यथागतम्।
मिथ्याप्रतिज्ञ! काकुत्स्थ! सुखी भव सुहृद्व्रतः॥

(बालकांड, सर्ग २१/२-३)

''पूर्व में की हुई प्रतिज्ञा को तुम भंग करना चाहते हो। संपूर्ण कुल का नाश करनेवाला यह आचरण रघुवंशजों के लिए उचित नहीं है। हे राजन्! यदि ऐसा करना तुम्हारी दृष्टि में ठीक हो, तो आए रास्ते से लौटता हूँ। झूठी प्रतिज्ञा करनेवाले! हे काकुत्स्थ! अपने प्रिय मित्रों के बीच तुम आराम से रहो।''

अपने द्वार पर आए किसी भी याचक को इससे पूर्व रघुवंश के किसी भी शासक ने खाली हाथ नहीं लौटाया था, न रघुकुल की वैसी परंपरा भी थी। यदि वैसी परंपरा होती तो विश्वामित्र अपनी माँग लेकर अयोध्या आते भी नहीं। राजा के द्वारा प्रदत्त वचन का पालन करने से कुल का सर्वनाश अवश्यंभावी है। इस तरह विश्वामित्र ने राजा को चेतावनी दी। द्वार पर आए अतिथि को यदि खाली हाथ लौटना पड़ता है तो वह यजमान का पुण्य ले जाता है, जाते-जाते अपना पाप यजमान के यहाँ छोड़ जाता है। यहाँ याचक-अतिथि स्वयं तपोधन विश्वामित्र थे। उनका विमुख हो लौटने का मतलब रघुकुल की पुरानी पीढ़ियों के पुण्य का अंत होना था और एक बार पूर्व संचित पुण्य नष्ट होने पर बुद्धि भ्रष्ट होकर कुल की अधोगति प्रारंभ हो जाती है तो रोके नहीं रुकती। घर में दरिद्रता, कष्ट, संकट हो या अपकीर्ति हो जाए तो भी विशेष हानिकर नहीं पर दुराचरण, अन्याय से प्राप्त संपत्ति या कुसंगति घर में अपनी स्थायी जगह बनाकर घर को ध्वस्त कर देती है, क्योंकि दुराचरण या पापकर्म से खाली संतान ही नहीं बिगड़ती, निश्चित रूप से वंश का विनाश होता है, समूल उच्छेद हो जाता है।

इस चिर सत्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए। कर्म या बिना श्रम के अपार धन

कमाया जा सकता है या असत्य के सहारे सत्ता और वैभव के गलियारे भी आपके लिए खुल सकते हैं, पर ऐसा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने ही सर्वनाश की सामग्री जुटाने में लगे हुए हैं।

दशरथ को महर्षि विश्वामित्र ने शाप देने के बजाय उसे रघुकुल की परंपरा की याद दिलाई है। बिना किसी संकोच और भय के उन्होंने चेतावनी दी है कि वचन भंग होने पर कुल का विनाश होने में देर नहीं लगेगी। निस्पृह विश्वामित्र यह कहकर बिना एक क्षण का विलंब किए वापस लौटने के लिए मुड़ने लगते हैं। उनका संताप, उनका क्रोध तपस्वी का, दिव्य योगी का क्रोध था। उसका परिणाम काल और परिस्थिति पर होना ही था—

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
चचाल वसुधा कृत्स्ना देवानां च भयं महत्॥

(बालकांड, सर्ग २१/४)

अर्थात् बुद्धिमान मुनिवर विश्वामित्र का इस तरह क्रोधाविष्ट होने पर सारी पृथ्वी हिल गई और देवगण भयभीत हुए।

महर्षि विश्वामित्र के क्रोध से दशरथ की सारी राजसभा भयाक्रांत होकर स्तब्ध रह गई। उनके क्रुद्ध चेहरे की ओर देखने का साहस किसी में भी नहीं रहा। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खुद दशरथ भी अवाक् हुए, उनकी आवाज ही बंद हो गई। किसी को कुछ भी सूझ नहीं रहा था। परिस्थिति की उस गंभीरता को भाँपकर ज्ञान-तप-संपन्न कुलगुरु अपने आसन से उठ खड़े होकर महाराजा दशरथ को संबोधित कर कहने लगे—

''हे राजन्! इक्ष्वाकुओं के कुल में साक्षात् धर्म के रूप में तुमने जन्म लिया है। तुम धीरवीर, सदाचरणशील और वैभवसंपन्न हो, इसलिए धर्म की हानि करना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। रघुवंश में उत्पन्न धर्मात्मा के रूप में तुम्हारी कीर्ति तीनों लोकों में फैली हुई है। इसलिए तुम धर्म का पालन करो, अधर्म का पालन मत करो।''

प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद्रामं विसर्जय॥८॥

''करूँगा यह प्रतिज्ञा करके जो अपने कहे अनुसार उसे पूरी नहीं करता है, उसे इष्ट और पूर्त (यज्ञयाग तथा कूप, तडागादि का लोकोपकारी निर्माण) का फल नहीं मिलता है। इसलिए (तुरंत) राम को सौंप दो।''

महर्षि वशिष्ठ रघुवंश के कुलगुरु, कुलाधिपति थे। यज्ञ एवं अनुष्ठान इत्यादि में मंत्रोच्चार कर आहुतियाँ दिलवाने से ही कुलगुरु का कार्य पूरा नहीं हो जाता। राजा के

धार्मिक कृत्यों में आना, उसका मार्गदर्शन करना, राजनीति और राजकाज को देखना, आपत्ति के समय दिशा-निर्देश देना तथा राजा कोई गलत निर्णय लेने पर आमादा हो या ले ले, तब उसे समझाकर निर्णय बदलने के लिए दबाव आदि कई महत्तवपूर्ण कार्य प्राचीन काल में राजपुरोहितों को करने होते थे। वसिष्ठ केवल पुरोहित नहीं, दशरथ के ऋषिमंडल के अधिकारी और ज्ञानी थे। रघुकुल शासकों और कुल के कल्याण, मंगल के लिए वे हमेशा तत्पर, दक्ष रहते थे। राजसभा की उपस्थिति में दिए हुए वचन से दशरथ मुकर रहा है। यह बात उनकी दृष्टि में अयोध्या के सिंहासन और रघुकूल दोनों के लिए ही हितकारक नहीं थी। राजद्वार पर आए महर्षि विश्वामित्र के खाली हाथ लौटने की घटना उन्हें अनिष्टकारक और अशुभ फल देनेवाली प्रतीत हुई। इसलिए महाराजा क्या सोचें, क्या नही सोचें, इसकी रत्ती भर भी परवाह किए बिना उन्होंने आदेश दिया। धर्म का अवलंबन करो, अधर्म का नहीं। विश्वामित्र के स्वयं के अद्‌भुत सामर्थ्य का वर्णन करते हुए वे दशरथ को समझा रहे हैं—राम के जाने में अब संशय छोड़ दो। वैसे तो कुशिकंदन महर्षि स्वयं ही उन राक्षसों का वध करने में पूर्ण समर्थ हैं, पर तुम्हारे पुत्र का कल्याण करने के लिए ही तुम्हारे पास आकर राम की याचना कर रहे हैं। अनुग्रहेऽप्यभ्यर्थना! वाल्मीकि की सटीक लेखनी देखिए—

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते॥

(बालकांड, सर्ग २१/२१)

□

बला-अतिबला विद्याएँ

महर्षि विश्वामित्र की अस्त्र विद्या में कितना प्रावीण्य है और कितने प्रभावशाली उसके परिणाम होंगे आदि बातें बताकर महर्षि वशिष्ठ ने राम और लक्ष्मण को उनके साथ भेजने के लिए महाराजा दशरथ को प्रेरित किया। उससे दशरथ के मन का संशय और भय दूर होने में मदद मिली और वे विश्वामित्र के साथ राम को भेजने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने लक्ष्मण के साथ राम को बुलावा भेजा। कौशल्या माता और दशरथ ने उन्हें भेजने से पूर्व मंगलाचार पूरा किया। कुलगुरु वशिष्ठजी ने मंगलसूचक वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए उन्हें अभिमंत्रित किया। महाराजा दशरथ ने दोनों ही पुत्रों के मस्तक बड़े प्रेम से चूम लिये और दोनों को ही विश्वामित्र को सौंप दिया।

राम का जन्म ही दुष्ट राक्षसों का दमन करने के लिए हुआ था। अत: विश्वामित्रजी के साथ उसका तो जाना अवश्यंभावी ही था। वह न केवल विश्वामित्र के लिए या राम की कीर्ति के लिए जरूरी था, अपितु वह समय की माँग थी, जरूरत थी। वह संसार की, सृष्टि की आवश्यकता थी; प्रकृति उसी की मानो प्रतीक्षा कर रही थी। अयोध्या की सीमा के बाहर जैसे ही राम ने पदन्यास किया, सचमुच सारा वातावरण ही बदल गया। सुखद हवाएँ चलने लगीं और राम-लक्ष्मण पर आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। देवताओं के शंखों और दुंदुभियों की घन गंभीर अनुगूंज पूरे वातावरण में व्याप्त हो गई। निसर्ग ने मानो विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने का स्वागत किया, शुभ शकुनों की बौछार कर दी। लगने लगा, महर्षि की कार्यसिद्धि अब अधिक दूर नहीं है।

अयोध्या पीछे छूट गई। २-३ मील तक महर्षि विश्वामित्रजी के पीछे-पीछे राम-लक्ष्मण चलने लगे। सरयू नदी का दक्षिण किनारा आ गया। तब महर्षि ने राम से कहा— राम! आचमन करो। काल का अपव्यय या अतिक्रमण करना ठीक नहीं है। बला और अतिबला नाम से प्रसिद्ध मंत्रों को तुम आत्मसात् करो।

गृहाण वत्स! सलिलं मा भूत कालस्य पर्यय:।
मंत्रग्रामं गृहाणत्वं बलामति बलां तथा॥ १२॥

महर्षि विश्वामित्र के साथ राम को भेजने के लिए समझाते हुए वसिष्ठजी ने विश्वामित्र की आश्चर्यजनक अस्त्रविद्या का विस्तृत विवरण दशरथ को सुनाया था। तत्कालीन प्रसिद्ध व प्रचलित अस्त्रविद्या के विश्वामित्र अच्छे जानकार तो थे ही, पर किसी भी नवीन अस्त्र का निर्माण करने की अद्भुत सामर्थ्य उनके पास थी। राम ने यह मनुष्य जन्म क्यों लिया या उसे क्यों लेना पड़ा, शायद यह तथ्य त्रिकालज्ञान वाले विश्वामित्र जानते थे। दशरथ पुत्र राम का जन्म किसलिए हुआ, राम के रूप में अपरोक्ष रूप से किसने अवतार लिया और वह मुख्यत: किस उद्देश्य से लिया। इन सब बातों से विश्वामित्र परिचित थे। इनका ठीक से ध्यान रखते हुए ही उन्होंने महाराजा दशरथ से रामचंद्र की माँग की थी। इस राजकुमार को आगे चलकर रावण जैसे पराक्रमी और अजेय राक्षस से युद्ध करना होगा। इसे मानते हुए वे राम को अधिक शक्तिशाली और बलशाली बनाना चाहते थे। एक तरफ रावण और दूसरी ओर व्यक्तिगत परिधि के शत्रु इन दोनों मोर्चों पर यदि राम को युद्ध करना पड़ा तो केवल शस्त्रविद्याएँ ही नहीं, अपितु मानसिक और वैचारिक दृष्टि से भी समर्थ, शक्तिशाली होना उसके लिए आवश्यक था। इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होने वाली अस्त्रविद्या का उपदेश राम को देने के लिए विश्वामित्र उत्सुक हुए। बला और अतिबला विद्याओं का महत्त्व समझाते हुए विश्वामित्र कहने लगे—

न क्षमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्यय:।
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्नि नैर्ऋता:॥
न बाह्वो: सदृशे वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन।
त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत्सहशस्तव॥
बलामतिबलां चैव पठतस्तान राघव।
न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये॥
नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानध।
एतद् विद्या द्वये लब्धे न भवेत्सहशस्तव॥
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम॥
बला मति बलां चैव पठतस्तात राघव।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाथ भवेद भुवि॥
पितामह सुते ह्येते विद्ये तेज: समन्विते।
प्रदातं तव काकुत्स्थ! सहशस्त्वं हि पार्थिव॥

कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्यैते नात्र संशयः।
तपसा संभृते चैते बहुरूपे भविष्यतः॥

(बालकांड, सर्ग २२/१३-२०)

अर्थात् हे राम! बला और अतिबला विद्याएँ प्राप्त करने पर थकान या ज्वर कभी नहीं होगा। तुम्हारे स्वरूप में कभी कोई अंतर नहीं आएगा और नींद में या असावधान रहने पर भी कोई राक्षस तुम्हारे पास फटक नहीं सकेगा। बाहुबल में तुमसे समानता रखनेवाला आज पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति नहीं है। इस विद्या के कारण तीनों लोकों में भी कोई तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकेगा। हे राघव! इन विद्याओं का जब तुम पठन करने लगोगे तो भाग्य, सहजता, ज्ञान, ऐहिक विषय और प्रत्युत्पन्नमति इस सारे संसार में तुम्हारे समकक्ष कोई भी नहीं रहेगा। हे राम! बला और अतिबला विद्याओं से संपन्न होने पर तुम सभी दृष्टियों से अतुलनीय हो जाओगे। ये दोनों विद्याएँ संसार के सभी प्रकार के ज्ञान का उद्‌गम स्थान हैं। हे पुरुषोत्तम राम, तुम्हें भूख और प्यास कभी नहीं सताएगी। हे राघव! ये दोनों विद्याएँ संसार में तुम्हारी कीर्ति को अमर कर देंगी। ये तेजोमय विद्याएँ ब्रह्मा की कन्याएँ हैं। हे काकुत्स्थ, तुम ही इन विद्याओं को प्राप्त करने के लिए योग्य व समर्थ हो, क्योंकि इनको स्वीकार कर इन्हें धारण करने के लिए जो गुण और योग्यताएँ होनी चाहिए, वे सब तुम्हारे पास हैं। तपस्या से समन्वित होने पर ये विद्याएँ तुम्हारे लिए फल देनेवाली सिद्ध होंगी।

विश्वामित्र इन विद्याओं को जानते ही थे, तपस्या से उन्हें सिद्ध भी किया था। फिर राम की क्या जरूरत पड़ी। यज्ञ के लिए दीक्षित होने पर यज्ञ समाप्ति तक वे आवेश या क्रोध में राक्षसों के विनाश के लिए इन मंत्रों का उच्चारण कैसे कर सकते थे? बस इसीलिए राम में ही उनका राम था। यज्ञ की रक्षा तो तात्कालिक निमित्त या कारण था। रावणवध के लिए साक्षात् विष्णु ने राम के रूप में अवतार लिया है। इस बात को वे खूब जानते थे। इसीलिए राम को वे अस्त्रविद्या में निपुण बनाना चाहते थे, यही महर्षि की माँग का निहितार्थ है। राक्षसों के साथ युद्ध करना सामान्य नहीं था, क्योंकि वे मायावी रूप लेकर लंबे समय तक युद्ध करते रहते थे। ऐसे युद्धों में राम अजेय रहें, इसीलिए यात्रा के प्रारंभ में ही महर्षि बला और अतिबला विद्याओं का मंत्र-प्रयोग राम को सिखाना चाह रहे थे।

बला-अतिबला एक सिद्धमंत्र है। मंत्रशास्त्र में इन दोनों विद्याओं के कार्य इस प्रकार बताए गए हैं—

उत्साहबलयोर्वृद्धिः परशस्त्रसहिष्णुता।
न बाधा क्षुत्पिपासाभ्यां यतः सा कथिता बला॥

यतः परस्मात् स्खालित्यं हङ्मनः कायकर्मणाम्।
स्वोपायानाममोधत्वं भवेत्सातिबला मता॥

उत्साह और बल की वृद्धि, शत्रु के शस्त्राघात को सहन करने की क्षमता तथा क्षुधा एवं तृष्णा से बाधित न होने के गुणों के कारण ही इस विद्या को 'बला' कहा गया है। शत्रु का मन, शरीर, कर्म और दृष्टि को स्खलित करने तथा अपने शस्त्रादि प्रयोगों को अचूक सिद्ध करने की सामर्थ्य के कारण इसे 'अतिबला' कहा गया है।

इस चर्चा से बला और अतिबला विद्याओं का महत्त्व सहज ही समझ में आ सकता है। अयोध्या से बाहर निकलते ही सबसे पहले महर्षिजी ने राम को इस विद्या का उपदेश क्यों दिया होगा, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है। यह विद्या जिसके वश में हो, उसे भूख-प्यास तो सता ही नहीं सकती है, भले ही युद्ध कितने ही दिन क्यों न चले। युद्ध किसी भी ऋतु में हो, पृथ्वी पर हो या किसी भी लोक में हो, शत्रु कोई भी हो, यह विद्या जिसने सिद्ध की हो, वह कभी पराजित नहीं हो सकेगा, उसे कोई पराभूत नहीं कर सकता। भूख और प्यास जिसने जीत ली, उसने संसार जीत लिया। मनुष्य के ये दो ही सबसे बड़े शत्रु हैं, इनके लिए ही तो उसे सारे पाप करने पड़ सकते हैं।

राम के अवतार रूप में कार्यों के प्रारंभ में ही महर्षि द्वारा उन्हें बला-अतिबला मंत्र समुदाय का उपदेश देकर समर्थ बनाने, उनकी लक्ष्यवेधी दूरदृष्टि का परिचय कराती है।

□

ताडका वध

अयोध्या से बाहर निकलते ही महर्षि विश्वामित्रजी ने बला और अतिबला नामक अद्‌भुत विद्याओं के मंत्रसमूह की शिक्षा राम को देकर उसे सब तरह से समर्थ बना दिया। राम अपने संपूर्ण जीवन में हर शत्रु को परास्त कर विजयी रहे और अतिबली सिद्ध हुए, इस सत्य की रामायण की अनेक घटनाएँ साक्षी रही हैं।

बला-अतिबला विद्या प्राप्त कर राम और लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्रजी के साथ रवाना हुए। उन्होंने पहला विश्राम मार्ग में आए भर्गाश्रम में किया। यहीं पर भगवान् शिव ने तपस्या की थी। इसी आश्रम में तपस्या करते हुए शिवजी को कामदेव ने अपने बाणों से विचलित करने का प्रयास किया था, तब उग्रदृष्टि के एक कटाक्ष मात्र से शिवजी ने उसे भस्मसात् किया था।

कामदेव का शरीर उस कटाक्ष से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, भस्मीभूत हुआ यहीं पर। अंगहीन होने से ही बाद में वह अनंग कहलाया। वह स्थान विशेष, जहाँ कामदेव का ऐसे अंत हुआ, परवर्ती काल में अंगदेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह जानकारी भी विश्वामित्रजी ने ही राम और लक्ष्मण को दी। ऐसे प्रसिद्ध भर्गाश्रम में तपस्या करनेवाले ऋषि-मुनियों की आवभगत स्वीकार कर महर्षि अपने शिष्यों के साथ अपने मार्ग पर अग्रसर हुए।

भर्गाश्रम छोड़ते समय मुनियों ने गंगा नदी पार करने के लिए एक अच्छी नौका इन गुरु-शिष्यों को मुहैया कराई थी। उसमें बैठकर नदी पार करते समय मध्य भाग तक पहुँचते-पहुँचते पानी के तूफानी वेग के कारण प्रवाह में से उठती तीव्र ध्वनि सुनाई देने लगी। राम-लक्ष्मण प्रश्नार्थक दृष्टि से जब महर्षि की ओर देखने लगे, तब उन्होंने बताया—"हे पुरुषश्रेष्ठ राम! ब्रह्मा ने अपने ही मन के सहयोग से कैलाश पर्वत पर एक उत्तम सरोवर बनाया। मन से ही बनाया गया वह सरोवर 'मानस' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस सरोवर से जो नदी निकली वह अयोध्या के समीप बह रही है।

सरोवर से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सरयू पड़ा। उस नदी की अतुलनीय आवाज गंगा के प्रवाह की ध्वनि के साथ मिल जाने से यह ध्वनि अपने को सुनाई दे रही है। शुद्ध सत्त्वशील मन से तुम इसे प्रणाम करो।''

कैलासपर्वते राम! मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल! तेनेदं मानसं सर:॥
तस्मात्सुस्राव सरस: सायोध्यामुपगूहते।
सर: प्रवृत्ता सरयू: ब्रह्मसरश्च्युता॥
तस्यायमनुलो शब्दो जाह्नवीमनिवर्तते॥
वारिसंक्षोभजो राम! प्रणामं नियत: कुरु॥

(बालकांड, सर्ग २४/८-१०)

अपने गुरु के आदेश को प्रमाण मानते हुए राम-लक्ष्मण ने गंगा मैया और सरयू को नमस्कार किया और गंगा के दक्षिण किनारे पर पहुँचकर वे तीनों ही जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते रहे। कुछ दूर जाने पर एक अत्यंत भयप्रद और निर्जन अरण्य प्रदेश दिखाई दिया। उस अरण्य में से सब प्रकार के कीड़े, जंगली जानवर और पशु-पक्षी थे, घने वृक्ष थे, उनसे लिपटी लताओं के जाल फैले थे। पर किसी मनुष्य के पैरों की कोई आहट नहीं सुनाई दे रही थी। उस सन्नाटे को तोड़ते हुए राम ने गुरुजी से प्रश्न पूछा, इतना बड़ा यह अरण्य भू-भाग निर्जन क्यों हुआ? वह इतना भयानक कैसे बना? विश्वामित्र ने इसके उत्तर में जो कथा कही, उसकी व्यथा को इन शब्दों में बताया जा सकता है—

यह भू-भाग था, अरण्य नहीं था। इंद्र के वरदान से समृद्ध और संपन्न यह प्रदेश दो भू-भागों से बना। उन्हें उस समय 'मलद' और 'करुष' कहा जाता था। बहुत समय तक धन-धान्य से समृद्ध यह प्रदेश आबाद रहा। कुछ समय बाद महाशक्तिशालिनी ताडका नाम की एक यक्षिणी यहाँ पर पैदा हुई । उसने सुंदर नामक राक्षस से ब्याह किया। इस विवाह से उसे मारीच नाम का पुत्र हुआ। ताडका और मारीच इस प्रदेश को तहस-नहस करते रहते थे। आने-जाने वालों को रोकना, उनकी हत्या करना, फसलें जलाना जैसे विध्वंसकारी काम करते थे। इसलिए यहाँ पर रहने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती थी। इस प्रदेश को निर्भय बनाने या निष्कंटक करने के लिए अपने बाहुबल के सहारे तुम ताडका का वध करो। यह मेरी आज्ञा है।

महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए ताडका का वध करने का मन्-ही-मन निश्चय तो कर लिया, पर ताडका स्त्री होने से राम के मन में दया न उपजे या स्त्रीवध कैसे करे, ऐसा संशय उत्पन्न हो, इसलिए महर्षि ने अधर्माचरण करने वाली स्त्री का वध कैसे धर्मकार्य है, यह समझाते हुए अधर्मनिष्ठ स्त्री का वध क्षत्रिय का कैसे

परम कर्तव्य है इसका उपदेश दिया। विरोचन की कन्या मंथरा का इंद्र के द्वारा तथा शुक्र की माता का विष्णु के द्वारा किए गए वध के उदाहरण देकर राम को मानसिक रूप से ताडका के वध के लिए तैयार किया। उसके बाद ही राम ने ताडका वध की प्रतिज्ञा की।

परंतु महर्षि अगस्ति के शाप के कारण ताडका का स्वरूप विकराल हो गया था। उसकी देह ने विशाल आकार ले लिया था। उसे मारना या उसका वध करना कोई हँसी-खेल नहीं था। उसे देखनेमात्र से या उसकी गर्जना सुनने से अपनी डींग हाँकनेवाले बड़े-बड़े शूरवीरों की बोलती ही बंद हो जाती थी। अकेले लक्ष्मण की सहायता से ताडका वध करना असंभव सा लगने लगा था। फिर भी राम के असीमित सामर्थ्य का अनुमान करते हुए ही जान-बूझकर महर्षि ने राम को ताडका वध के लिए प्रवृत्त किया। चतुरंगिणी सेना के साथ, कई सेनापतियों के निर्देशन में, अनेक शस्त्रास्त्रों के सहारे ताडका का वध कराने में विश्वामित्र की कोई रुचि नहीं थी। वह सब तो दशरथ के पास था ही, परंतु दशरथ या उसके समान कोई भी क्षत्रिय शासक अब तक ताडका का वध नहीं कर पाया था। अपनी सामर्थ्य की पहचान करने का राम के लिए यह एक अवसर था। साथ ही ताडका के वध से वह सारा प्रदेश बाधारहित होकर विश्वामित्र का गौरव तो बढ़ना-ही-बढ़ना था। इस एक क्षत्रियोचित धर्मकार्य से तीनों लोकों में राम का यश अमर होने का भी यह सुवर्णावसर बनता।

अब गुरु की आज्ञा को प्रमाण मानकर मानो राम ने ताडका का वध करने का दृढ़ निश्चय ही कर लिया। राम ने अपने धनुष का टंकार इस तरह जोर से किया कि दसों दिशाएँ उसकी गर्जना से भयावह हो उठीं, अरण्य में रहने वाले सारे प्राणी भयभीत, आतंकित हो उठे। उस प्रचंड ध्वनि से ताडका बहुत क्रुद्ध हो गई, राम चाहते भी यही थे। जिस दिशा से टंकार उठी, उसी ओर ताडका पूरे वेग से दौड़ती आ रही थी। उसका वह भीषण रूप देखकर उसकी नाक-कान काटकर अधर्म-कार्य से उसे परावृत करने का राम का मानस था। उसकी शक्ति और गति को नष्ट कर देना उचित होगा। स्त्री का वध नहीं करें, ऐसा विचार राम के मन में आ रहा था। पर एक स्त्री की आक्रामक गति और स्वरूप देखकर यह विचार एक क्षण में दूर हुआ। राम का सौम्य रूप अदृश्य हुआ, वे क्रोधित दिखाई देने लगे। उस क्षण न केवल ताडका राम-लक्ष्मण पर आक्रमण करने दौड़ी, अपितु उसने मिट्टी की आँधियों को तूफानी वेग से उठाकर दोनों भाइयों को मानो धूलि के अंबार से ढँक दिया और दोनों पर पत्थरों की बरसात ही शुरू कर दी। अपनी मायावी विद्या से ताडका चारों ओर पाषाणों का पटल बनाकर घेरना चाहती थी। यह ध्यान में आते ही बाणवृष्टि से पत्थरों को दूर फेंकते हुए राम ने ताडका के दोनों हाथ ही काट दिए। उस हालत में भी वह लक्ष्मण की ओर दौड़ी, तब राम ने उसके कान-नाक काट दिए। अब ताडका अदृश्य होकर मायावी रूप में संहार करने लगी, पाषाण-वृष्टि करने लगी, संभ्रम

उत्पन्न होने लगा। तब विश्वामित्र गरज उठे—राम! रहने दो, तुम्हारी दया और स्त्री-दाक्षिण्य, दुराचरिणी और पापी यह यक्षिणी संध्याकाल होते-होते और प्रबल हो जाएगी। उससे पहले उसका वध करो अन्यथा उसे जीतना बहुत भारी पड़ेगा।

अब दया नहीं, करुणा नहीं, सिर्फ कर्तव्य सामने था। राम तैयार थे ही। सामने हो रही पत्थरों की बौछार को दूर करते हुए चारों ओर बाण वर्षा कर उन्होंने ताडका को जकड़ लिया। क्रोध संतप्त ताडका बिजली की गति से दौड़ती हुई राम-लक्ष्मण की ओर आ रही थी। यह देखते ही राम ने अंतिम निर्णायक बाण से ताडका के वक्षस्थल को चीर दिया। त्रिलोकी को कंपायमान करनेवाली प्रचंड ध्वनि करते हुए ताडका धरती पर गिर गई। अधर्माचरण का अंत हुआ, देवताओं ने प्रशंसा की।

□

रामबाण की दहशत

अपने तमोगुणी स्वभाव, क्रूरता और हिंसक प्रवृत्तियों से नंदनवन जैसे प्रदेश को निर्जन अरण्य-प्रदेश बनानेवाली ताडका का वध करना या कैसे किया जाए, यह केवल देवताओं के लिए ही चिंता का विषय नहीं था, अपितु वह समय की आवश्यकता थी, काल की माँग थी। किसी दुष्ट व्यक्ति का जब वध किया जाता है तो वह व्यक्तिगत दुश्मनी के कारण नहीं किया जाता है। भले ही कोई दुष्ट व्यक्ति अपने परिवार या किसी परिजन के हित के लिए दुष्कार्य करता हो, वह संपूर्ण समाज को प्रभावित करता है। उसके परिणाम दूरगामी होते हैं, इसे भूलना नहीं चाहिए। ऐसे ही दुर्जनों का प्रतिनिधित्व यक्षिणी ताडका कर रही थी। उसे आततायी प्रतिनिधि कहना उचित होगा। राम ने उसे कभी देखा नहीं था। व्यक्तिगत रूप से ताडका ने भी कभी दशरथ या राम का कोई बुरा नहीं किया था, उन्हें किसी तरह का नुकसान नहीं पहुँचाया था। ऐसी स्थिति में विश्वामित्र के कहने में आकर या उनकी आज्ञा से उसका वध करने में राम की प्रवृत्ति क्यों हुई ? ताडका ने जब राम का कोई अपराध ही नहीं किया था, तब राम के द्वारा उसका वध करना क्या दंडनीय अपराध सिद्ध नहीं होता ? पर इसके उलट ताडका का वध होने पर सारा ही वातावरण प्रसन्न लगने लगा और ऋषि-मुनि तथा देवता राम-लक्ष्मण पर पुष्पों की वर्षा करने लगे। राम के एक बाण से ही ताडका राक्षसी के भयाक्रांत करनेवाले अस्तित्व की इति हो गई। राम के दिव्य और मंगल अस्तित्व का प्रभाव दसों दिशाओं में दिखाई देने लगा।

हर काल में और हर समाज में रहनेवाले कपटी, चोर, लुटेरे, डकैत ऐसे दुर्जनों के कार्य हमेशा ही अमंगल और विध्वंसकारी होते हैं। नित्य अशुभ चिंतन, अशुभ बोलने, अमंगल सहवास करने वालों का अस्तित्व भी अशुभ अमंगल को हार्दिक निमंत्रण देनेवाला होता है। अशुभ या दुष्कृत्य करनेवालों की अपेक्षा अमंगल चिंतन करनेवाले समाज के लिए अधिक घातक सिद्ध होते हैं। समाज की सुव्यवस्था के लिए, नीतिमत्ता

को सुरक्षा के लिए दुर्जनों का विनाश करना आवश्यक ही होता है। इसीलिए उनका विनाश किया जाता है। इन दुर्जनों का मानसिक दुश्चिंतन इतना प्रभावशाली होता है कि किसी परिवार का ही नहीं, सारे समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। ये लोग खुलेआम तो कुछ करते नहीं हैं। वे यह खूब जानते हैं कि वे जो कुछ करना चाहते हैं या कर रहे हैं, वह राजमार्ग नहीं, बल्कि वाममार्ग है। इतिहास साक्षी है कि ये लोग शूरवीर या पराक्रमी नहीं, कायर और डरपोक ही होते हैं। होना भी ठीक ही है।

ऐसी दुष्ट शक्ति जब किसी भयंकर राक्षस का या अत्याचारी शासक का रूप लेती है तब वह अपने अहंकार और अपनी दुर्बुद्धि के कारण पूरे निरपराध समाज को ही परेशान करती हुई हिंसा का तांडव करती रहती है। सारी मानवता के लिए वह न टलनेवाला संकट बन जाता है। तब समस्त पृथ्वी ही भय से काँपती हुई ब्रह्मा या विष्णु के चरणों की शरण लेने के लिए तड़प उठती है। ऐसे दुष्टों की शक्ति का संहार किसी सेना या शस्त्रों की सहायता से नहीं होता। उसके लिए प्रत्यक्ष काल को ही मनुष्य रूप में अवतार लेना पड़ता है, तब वाममार्गी हिंसक प्रवृत्तियाँ जड़-मूल से उखड़ जाया करती हैं। वह शक्ति शिशुपाल हो या जरासंघ हो, या कंस अथवा सुंदोपसुंद हो, उसे नष्ट होना ही होगा। इसलिए जब किसी ऐसी शक्ति का विनाश होता है या वध किया जाता है तो समाज उस क्षण को 'मंगल दिन आयो' के रूप में समारोहपूर्वक मनाता है। दीपावली इसका उत्तम उदाहरण है। राम के द्वारा ताडका-वध की पार्श्वभूमि में इसी सामाजिक चिंतन-परंपरा ने काम किया है।

रामायण के समय में सारा समाज ही ताडका जैसी क्रूर राक्षसी के वध की प्रतीक्षा कर रहा था, इसलिए लोगों ने मुक्ति का अहसास करते हुए इस घटना का करतल ध्वनि से तो स्वागत किया ही, पर देवताओं ने भी राम के कार्य की प्रशंसा करने में कोई कसर नहीं रखी। इंद्र और अन्य देवता भी आनंदित हुए, क्योंकि उस समय ताडका जैसे अनेक राक्षसों ने जनसमुदाय को संत्रस्त, भयभीत कर रखा था। उसका पुख्ता इंतजाम कैसे करें, यह सभी को चिंता थी। ऐसी संकट की घड़ी में राम जैसे शक्तिशाली युवक के द्वारा ताडका का वध किए जाने से मानो त्रिलोकी को ही थोड़ा ही क्यों न हो, धीरज बँधा, साहस आया, धैर्य बढ़ने लगा। राम के रूप में संसार में अब 'राम' लगने लगा, निर्भयता का वातावरण बनने लगा। विध्वंसक या वाममार्गी शक्तियाँ कितनी ही शक्तिशाली या विकराल क्यों न हों, उनका विनाश किया जा सकता है। इसका अनुभव समाज ने तो किया ही, देवताओं की भी समझ में आने लगा कि वाममार्ग के विनाश के लिए क्या किया जाना चाहिए। इसी घटना ने यह भी बता दिया कि रावण और सहयोगी राक्षसों के विनाश करने के लिए एकमात्र पर्याय है,एक ही आशा की किरण है—दाशरथी राम! विश्वामित्र-शिष्य राम।

ताडका का वध होने तक सारे ही राक्षस कुल की यह अवधारणा बन गई थी कि इस पृथ्वीलोक पर उन्हें हरानेवाला कोई शूर है ही नहीं। 'वीर-विहीन मही मैं जानी', उन्हें परास्त करनेवाला कोई वीर बचा ही नहीं है। इसीलिए निर्बाध, निर्बंध होकर क्रूर काल की तरह वे पृथ्वी पर विनाश का तांडव करते थे। एक कहावत है—समय बदलता है तो हवा का रुख भी बदलता है—'जब नीकै दिन आवत है, बनत न लागै देर', फिर तो रणांगण के द्यूत में पासे भी उलटे पड़ने लगते हैं, यश अपयश में और विजय पराजय में बदलने में देर नहीं लगती है। कालपुरुष ही जब अत्याचारों, हत्याओं और अपराधों के चक्रव्यूह देखकर मन-ही-मन उद्विग्न हो जाता है। तब वह किसी शरीरधारी राम के सहारे से सारी मानवता को अपने गले लगाता है, मानव-मात्र को अवलंब देता है। तत्कालीन समाज, तीनों लोक और देवगंधर्वादि ताडका वध के बाद मुक्त कंठ से राम की प्रशंसा क्यों करने लगी, इसकी यह समीक्षा है। राम के बाण ने ताडका का ही वध नहीं किया, बल्कि रावण की लंका को भी एक करारा झटका दिया। खर-दूषणादि राक्षसों का सिंहासन तो हिल ही गया था, स्वयं रावण और उसके परिजनों की नींद हराम हो गई। दशरथ नंदन राम का क्रोध ताडका का वधकर के ही नहीं थमेगा, बल्कि वह राक्षसों के साम्राज्य को भी विध्वंस कर देगा, इस आशंका से राक्षसों के प्रभाव क्षेत्र की जड़ें हिलने लगीं। ''जब तक इस पृथ्वी पर हमारा डंका बज रहा है तब तक सामान्य मानव की तो छोड़िए, इंद्र और सहयोगी देवगण भी हमारा बालबाँका नहीं कर सकेंगे।'' यह सोचकर विचरण करनेवाले राक्षसों का नशा काफूर हो गया। राम के एक ही बाण ने उन्हें धरती दिखा ही नहीं दी, उस पर खड़ा भी कर दिया। परवर्ती समय में इसी बाण से राम ने रावण का वध किया, इसलिए वह बाण 'रामबाण' हो गया। राक्षसी का वध कर सारे राक्षस कुल की नींद उड़ानेवाला वह रामबाण के रूप में तब से ही पहचाना जाने लगा। ताडका प्रसंग के होनेवाले ऐसे दूरगामी परिणाम खोजने से ही विश्वामित्र द्वारा यज्ञ के कारण से राम को अयोध्या से बाहर निकालकर ले जाने का रहस्य समझ में आ सकता है। इसीलिए प्रसन्न हुए देवताओं ने विश्वामित्र को कहा, ''मुनिवर! आपका कल्याण हो। इंद्र और सारे देवगण आपके इस कार्य से प्रसन्न हुए हैं। अब राम के प्रति आप अपना स्नेह दिखाइए।''

मुने! कौशिक! भद्रं ते सेन्द्रा सर्वे मरुत्गणाः।
तोषिता कर्मणेन न स्नेहं दर्शय राघवे॥

(बालकांड, सर्ग २६/२८)

'स्नेह प्रकट कीजिए' का तात्पर्य है—अब अपनी सारी अस्त्र विद्या राम को दीजिए।

□

अस्त्र संपन्न राम

ताडका वध से प्रसन्नचित्त देवताओं ने विश्वामित्र का अभिनंदन कर विनम्र भाव से उन्हें निवेदन किया—हे ब्राह्मण! कृशाश्व प्रजापति के तप व सामर्थ्य से समृद्ध सर्वथा अजेय रहनेवाले अस्त्ररूपी पुत्र रघुवंशी राम को समर्पित करिएगा। आपकी सेवा कर रहे राम आपके द्वारा दिए जानेवाले दान के लिए उपयुक्त सत्पात्र हैं। इन राजकुमारों के हाथों देवताओं का बहुत बड़ा कार्य किया जाना है—

प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान्सत्यपराक्रमान्।
तपोबल भृतो ब्रह्मन् राघवाय निवेदय॥
पात्रभूतश्च ते ब्रह्मन् तवानुगमने रतः।
कर्तव्यं सुमहत्कर्म सुराणां राजसूनुना॥

(बालकांड, सर्ग २६/२९-३०)

किशोरावस्था में अकेले राम द्वारा भयंकर ताडका राक्षसी का वध करने से इंद्रादि देवताओं के मन में आया कि विश्वामित्र को अब संपूर्ण अस्त्रविद्या राम को सिखा देनी चाहिए। देवता इस बात को खूब जानते थे कि विश्वामित्र यानी अस्त्रविद्या का समुंदर हैं। राम का जन्म देवकार्य, अर्थात् रावण वध के लिए ही हुआ है। इस तथ्य का स्मरण विश्वामित्र को था ही। उस देवकार्य को संपन्न करने के लिए राम का अस्त्रविद्या की सभी शाखाओं में निष्णात होना आवश्यक भी था। इसीलिए देवताओं ने विश्वामित्र की प्रशंसा कर सेवातत्पर राम को अस्त्र विद्या सिखाने और भावी जीवन में उसे यशस्वी होने में सहयोग देने के लिए उनसे प्रार्थना की और स्वर्ग की ओर रवाना हुए। संध्या समय बीत रहा था, रात होने लगी थी, इसलिए महर्षि ने राम-लक्ष्मण के साथ उसी वन में विश्राम किया। अब ताडका के विनाश के बाद ताडकारण्य निर्भयारण्य जो हो गया था। शांति हो गई थी वहाँ पर।

ताडका का वध किए जाने से राम से संतुष्ट हुए विश्वामित्र को अस्त्रविद्या देने के लिए देवताओं ने भी विनती की थी। महर्षि ने विद्यादान का अपना मानस बनाया। प्रसन्न होकर वे राम से कहने लगे—हे महाशय! तुम्हारा कल्याण हो। तुमसे संतुष्ट होकर समस्त अस्त्रविद्या इसी क्षण से तुम्हें दे रहा हूँ। इनकी सहायता से पृथ्वी पर रहनेवाले गंधर्व और सर्पों के साथ शत्रु बने देवता अथवा राक्षस जो भी हों, उन्हें नाकों चने चबवाते हुए जीत लोगे। हे रघुवंशी राम! तुम्हारा कल्याण हो। उन सभी (प्रसिद्ध) अस्त्रों के साथ भव्य दिव्य दंडचंद्र (भी) मैं तुम्हें दूँगा—

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः॥
देवासुरगणान्वापि सगन्धर्वोरगान्भुवि।
यैर मित्रान्प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि॥
तानि दिव्याणि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।
दंडचक्रं महदिद्व्यं तव दास्यामि राघव॥

(बालकांड, सर्ग २७/२-४)

महर्षि विश्वामित्र अब राम को अस्त्रविद्या देने के लिए आतुर हो उठे। कौन-कौन अस्त्र वे देंगे, उनका उच्चारण वे करने जा रहे हैं। वह नामावलि ही अस्त्रों की संपन्नता को बता रही है—

दंडचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, इंद्रचक्र (अति उग्र), वज्रास्त्र, शैवास्त्र, शूलवत्, ब्रह्मशिर, ऐषिक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी, शिखरी नामक दो गदाएँ, धर्मपाश, कालपाश, वारुण पाश, शुष्कास्त्र, आर्द्रास्त्र, पैनाक, नारायण, आग्नेयास्त्र शिखर, वायव्यास्त्र, हयशिर, क्रौंचास्त्र नामक शक्तियाँ, कंकाल, मुसल, उग्र, कापाल, किंकिणी, नंदन अथवा वैद्यधरास्त्र, उत्कृष्ट खड्ग, गान्धर्वास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषक, संतापन, विलपन, मदनास्त्र, मानव नामक गांधर्वास्त्र, पैशाच, तामस, सोमन, संवर्त, मौसल, सत्यास्त्र, मायामय, तेजोयुक्त सूर्यास्त्र, चंद्रका शिशिरास्त्र, त्वाष्टास्त्र, शीतेषु।

इन अस्त्रों का नामतः उल्लेख करते हुए विश्वामित्र राम से कहने लगे—हे राजपुत्र! इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला महाबलाढ्य और अत्यंत उदार ऐसे अस्त्ररूप कृशाश्व पुत्र को तुम तुरंत प्राप्त करो। वे त्वरित पूर्व दिशा की ओर मुँह करते हुए आसनस्थ हुए और अत्यंत हर्ष से कृशाश्व अस्त्र से संबंधित मंत्र संग्रह का राम को उपदेश दिया। प्रत्यक्ष देवताओं के लिए भी दुर्लभ मंत्र समुदाय राम को देने पर वे (अन्य अस्त्रों से) संबद्ध मंत्रों का जप करने लगे। वे सारे-के-सारे अस्त्र स्वयं मूर्तिमान् होकर प्रभु राम के पास आकर खड़े रहने लगे। राम ने हाथ से उन अस्त्रों का स्पर्श कर उन्हें स्वीकार किया

और प्रार्थना की—आप सब मंत्र रूप में मेरे मन में नित्य निवास करते रहने की कृपा करिएगा—

मानसा मे भविष्यध्वंमिति नान्यभ्य चोदयत्।

(बालकांड, सर्ग २७/२७)

महर्षि विश्वामित्र सभी अस्त्रों को अत्यंत विनम्रता से स्वीकार करते उनका उपसंहार कैसे करना है, यह भी सीख लिया। इतने अस्त्र देकर भी महर्षि का समाधान नहीं हुआ। शायद इसीलिए उनके पास जो और अस्त्र थे, वे भी उन्होंने राम को दिए। यथा—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, पराङ्मुख, अवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, वसुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुंदुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, नैराष्य, विमल, दैत्यनाशक, योगंधर, विनिद्र, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्कली, विरुच, सर्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रती, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जृंभक, सर्पनाथ, पंथान, तरुण।

इनका नामोच्चारण कर विश्वामित्र ने राम से कहा—यथेष्ट रूप धारण करनेवाले न तेजोमय अस्त्ररूप कृशाश्व पुत्र तुम धारण करो। तुम (ही) इसके लिए उचित पात्र हो। तुम्हारा कल्याण हो।

कृशाश्वतनयान्दाम भास्करान्कामरूपिण:।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्र भूतोसि राघव॥

(बालकांड, सर्ग २८/११)

राम ने अपनी स्वीकारोक्ति देते ही उज्ज्वल कांति से युक्त तथा आह्लाददायक कृशाश्व पुत्र वहाँ पर प्रकट हुए। उनमें से कुछ धूम्र या धुएँ जैसे, कुछ अंगारों की तरह दहकते, कुछ सूर्य की तरह तो कुछ चंद्र समान शीतल थे। वे विनम्र भाव से राम के सम्मुख बद्धकरांजलि खड़े हुए। वे राम से कहने लगे—हे नरशार्दूल! लो, हम आ गए हैं। हमें आपका कौन सा कार्य करना है, आप आज्ञा करें। तब राम ने कहा, योग्य समय पर आप मेरे मानस में मंत्ररूप में अवस्थित रहें। अब आप भले ही पधारें। राम की आज्ञा प्रमाण मान, उनकी प्रदक्षिणा कर वे कृशाश्वपुत्र अदृश्य हो गए।

ताडका पर छोड़े गए एक ही बाण से राम कितने अस्त्र संपन्न हो गए।

□

अस्त्रविद्या की महिमा

इंद्र इत्यादि देवताओं के निवेदन पर महर्षि विश्वामित्र ने समस्त अस्त्र-विद्या, दो गदाएँ तथा तीन पाशों को मंत्रोपदेश के माध्यम से राम को सौंप दिया। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि रामायण के पूर्व से ही शस्त्रों के साथ अनेक प्रकार के अस्त्र और उनके कई प्रकार थे तथा उनके प्रयोग व उपसंहार को जाननेवाले भी विद्वान् उस काल में थे, जो अपने योग्य शिष्यों को अस्त्रविद्या भी सिखाते रहे हैं।

प्राचीन काल में प्राय: क्षत्रिय शासकों या देवता और दानवों के बीच रणांगण में होनेवाले युद्धों में मुख्य शस्त्र धनुष-बाण ही था। तलवार या गदा का उपयोग प्राय: द्वंद्व युद्ध में ही होता था। युद्ध के तत्कालीन आयुधों को दो प्रकार से अलग-अलग किया जा सकता है—शस्त्र और अस्त्र। दिखाई देने में तीक्ष्ण, धारदार और प्रहार करते ही गहरे घाव करनेवाला या तीव्र प्रहार से सामनेवाले की इहलीला समाप्त करनेवाला आयुध शस्त्र है। मंत्रों की सहायता से अग्नि, वायु, वर्षा आदि का उपयोग कर विनाश लीला करनेवाला आयुध अस्त्र है। नजदीकी शत्रु का घात करनेवाला शस्त्र और दूर या समीप के भी शत्रु का संहार करनेवाला शस्त्र। जैसे कहा भी गया है—

दूरे चान्ते च यत् शस्त्रं शत्रुघातकरं भवेत्।
तदस्त्रमिती जानीयात् अन्यथा शस्त्रमुच्यते॥

अस्त्र भी दो प्रकार के थे—(१) मंत्रशक्ति की सामर्थ्य से चलाए जाने वाले और (२) यांत्रिक साधनों से फेंके जाने वाले। मंत्र शक्ति के बल पर चलाए जाने वाले अस्त्रों को दैवी अस्त्र कहा जाता था। जिन पर मंत्र से संबंधित देवता का प्रभुत्व रहता। धनुर्विद्या में पारंगत योद्धा धनुष की प्रत्यंचा पर तीर चढ़ाकर विशिष्ट देवता के मंत्र का मन-ही-मन ध्यान कर जब बाण छोड़ता तब वह उस अस्त्र विशेष के रूप में प्रकट हुआ करता था। योद्धा बाण की ही तरह अंकुश या दर्भ हाथ में लेकर भी जप करता था। समीप के शत्रु पर

वार करने के लिए किसी भी तीक्ष्ण या धारदार हथियार की अपेक्षा अस्त्र की संहार-सामर्थ्य निश्चित ही कई गुना अधिक हुआ करती थी। धनुर्वेद में कई मंत्रों का विवरण देते हुए अंजलि में जल लेकर जप करने का विधान किया हुआ है। अस्त्रों के प्रयोग के संबंध में चार प्रकार की कार्यवाही बनाई गई है—(१) मंत्र, (२) उपचार, (३) प्रयोग व (४) संहार। इन चार क्रमिक पद्धतियों के कारण मंत्रों को 'चतुष्पाद' कहा जाता है।

अस्त्रों के और भी दो प्रकार हैं—मायिक और निर्मायिक। आकार या आवाज आदि के जिस अस्त्र की शक्ति का अंदाजा लिया जा सकता है, वह निर्मायिक है, जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता, उसे मायिक शक्ति कहते हैं। मय नामक शिल्पकार की मायिक रचना की तरह मोह उत्पन्न करने या मनुष्य को धोखे में रखनेवाला आयुध मायिक है। ऐसे अस्त्रों के तीन और प्रकार होते हैं। वे जिस शक्ति की सहायता से फेंके जाते हैं उसके आधार पर—(१) तंत्रास्त्र या पाणियुक्त अर्थात् हाथों की सहायता से छोड़े जानेवाले, (२) यंत्रास्त्र—यंत्रों के सहयोग से चलाए जाने वाले, (३) मंत्रास्त्र—मंत्र-विशेष की शक्ति से छोड़े जाने वाले।

प्राचीन समय में चलने वाले गुरुकुलों में ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुमार विद्या प्राप्त करने के लिए जाया करते थे। इन्हें वेद, धर्मशास्त्र, नीति और राज्यशास्त्र के साथ धनुर्वेद की शिक्षा लेना भी आवश्यक था। इसलिए जैसे ब्राह्मण-कुमार धनुर्वेद में भी निष्णात होते थे, वैसे क्षत्रिय-कुमार वेदादि शास्त्रों में भी पारंगत हुआ करते थे। धनुर्वेद में अस्त्र-विद्या समाहित थी। अस्त्र विद्या मंत्रप्रणीत थी, अत: उसे सिखाने का अधिकार केवल गुरुकुल के आचार्यों को ही था। गुरुकुल में सिखाए जानेवाले कुछ अस्त्रों का उल्लेख यहाँ करना समीचीन होगा। यथा—असिरत्न, आग्नेय, ऐंद्र, एम्पिम, कंपन, कापल, कालमुद्गर, कैंकर, क्रौंच, गंधर्व, त्वाष्ट्र, नंदक, नारसिंह, नारायण, पपान, पाशुपत, पैशाच, प्रस्वाथन, प्रसपन, प्रस्थापन, ब्रह्मशिरम्, ब्राह्म, भावन, भैवर, मथन, महाबल, मायाधर, मोहन, मौसल, रौद्र, वायव्य, वारुण, विकंपन, शामन, शैल, शोषद, संवर्तन, सार्प, सावित्र, सोम व हथशिरस्।

इनमें से कतिपय का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

१. **आग्नेयास्त्र**—यह एक तरह का विस्फोटक बाण था। इसे छोड़ने पर वर्षा की तरह चारों ओर अग्नि फैलकर सब वस्तुएँ और मनुष्य जलकर राख हो जाते थे। इस अस्त्र का मुकाबला करने या इसे निरुपाय करने के लिए शत्रु पर्जन्यास्त्र को काम में ले सकता था।

२. **पर्जन्यास्त्र**—इस अस्त्र से आकाश में कृत्रिम तूफान उठकर बिजलियाँ कड़कतीं और चारों ओर तेज हवा के साथ बरसात होने लगती।

३. **वायव्यास्त्र**—इससे भयंकर आँधी-तूफान चलने लगते, चारों दिशाएँ अँधेरे में छिप जाती थीं।

४. **पन्नगास्त्र**—इस अस्त्र से जिधर देखें उधर साँप-ही-साँप दिखाई देते थे, डरते-काँपते शत्रु पक्ष में भगदड़ मच जाती। पन्नगास्त्र का प्रतिकार गरुडास्त्र से किया जाता था।

५. **ब्रह्मास्त्र**—यह एक अत्यंत भयंकर अस्त्र था। शत्रु का पूरा विनाश करने के लिए यह छोड़ा जाता था। इस अस्त्र का उपशमन केवल ब्रह्मास्त्र के द्वारा किया जाना संभव था।

६. **पाशुपतास्त्र**—संपूर्ण विश्व का संहारक यह अत्यंत विध्वंसकारी अस्त्र था।

७. **नारायणास्त्र**—पाशुपतास्त्र की तरह यह भी सर्वनाश करनेवाला अस्त्र था, जिसका उपशमन संभव ही नहीं था। शत्रु के पास शरण में जाने के अलावा और कोई उपाय बचता ही नहीं था।

प्राचीन काल में जमदग्नि, परशुराम, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, अर्जुन, भरद्वाज, अग्निवेश के नामों का अस्त्रवेत्ताओं के रूप में विश्वामित्र के साथ उल्लेख किया जा सकता है। कृष्ण तो परमास्त्रविद् के रूप में गौरवान्वित हैं। परशुराम से सागर को आग्नेयास्त्र और भगवान् शंकर से अर्जुन को पाशुपतास्त्र मिला था। शिष्य के संयम, विवेक, नीति और सौजन्य की कड़ी परीक्षा लेने के बाद ही अनुभवी गुरु उन्हें ऐसे संहारक अस्त्रों का विद्यादान किया करते थे। समान शक्तिवाला और पराक्रमी शत्रु यदि काबू में नहीं आ रहा हो तो ही धनुर्वेद ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने की अनुमति देता है।

महाभारत काल में द्रोणाचार्य के गुरुकुल में कौरवों के साथ पांडव भी धनुर्वेद के साथ अन्य विद्याओं की शिक्षा ले रहे थे। इन सब शिष्यों में अर्जुन की एकनिष्ठता, संयम, सौजन्य, एकाग्रता और विवेक को देखकर ही द्रोणाचार्य ने उसे ब्रह्मास्त्र के प्रयोग और उपसंहार में दक्ष किया। उसी समय ब्रह्मास्त्र के संबंध में एक कठोर नियम भी बताया था कि मनुष्यों पर तथा अल्पशक्तिशाली शत्रु पर इसका कभी भी प्रयोग न करें अन्यथा ब्रह्मास्त्र समस्त संसार को जलाकर खाक कर देगा।

न च ते मानुषेनेतत् प्रयोक्तव्यं कपंचन।
जगद्विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम्॥

ब्रह्मास्त्र का यह कठोर नियम तो गुरु ने अपने शिष्य को बताया ही, साथ में उसका प्रयोग कब और कैसे करना चाहिए, यह समझाते हुए वे कहने लगे—कोई अमानुषी, अमानवीय शक्ति यदि उत्पात मचा रही हो, उसी हालत में तुम ब्रह्मास्त्र को काम में लो। इसी से इस अस्त्र की भयंकरता का अनुमान लगाया जा सकता है।

विद्वान् गुरु से अस्त्र विद्या सीखते समय उसके प्रयोग के साथ उपसंहार को भी सीखना आवश्यक था। उपसंहार का अर्थ है—छोड़े हुए अस्त्र को वापिस अपने पास

लाना। इसलिए जो किसी तरह से अस्त्र का प्रयोग सीख ले, पर उपसंहार न जानता हो, उस स्थिति में ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी अस्त्र के प्रयोग का धनुर्वेद में कठोर निषेध किया गया है।

अविचार या क्रोध में आततायी होकर कोई भी योद्धा प्राय: अस्त्र का प्रयोग नहीं करते थे। अधर्मपूर्वक या दुश्मन के नागरिकों, ग्रामीणों पर अस्त्र का प्रयोग कभी भी नहीं किया जाता।

पर यहाँ 'रावण वध' ईश्वरीय, दैवी कर्तव्य था, इसलिए राम का अस्त्र समृद्ध होना, राम या विश्वामित्र की जरूरत के लिए नहीं अपितु समय की आवश्यकता थी। क्योंकि रावण शस्त्रास्त्र संपन्न, पराक्रमी, युद्धकला में निपुण और मायावी युद्ध में पारंगत था। इसलिए इन्हीं सब विशेष नामों से संपन्न हुए बिना राम भी उससे टक्कर लेकर उसे कैसे धूल चटाते ? विश्वामित्र की दूरदृष्टि का हम सबको लोहा मानना ही पड़ेगा।

□

जैसे श्रेष्ठ गुरु वैसे शिष्य

ताडका राक्षसी का वध करने के पश्चात् भविष्यकालीन कार्यों को ध्यान में रखते हुए विश्वामित्र ने राम को अस्त्र विद्या देकर अस्त्र समृद्ध बनाया। कृशाश्व से विश्वामित्र, विश्वामित्र से राम और राम से लक्ष्मण को अस्त्र-विद्या प्राप्त होने की परंपरा को अस्त्र विद्या की गुरु-परंपरा कह सकते थे।

ताडकारण्य से बाहर निकलकर गुरु विश्वामित्र के साथ सिद्धाश्रम पहुँच गए। भगवान् विष्णु ने इसी स्थान पर तपस्या की थी। भगवान् विष्णु ने यहीं पर वामनावतार लिया था। इसलिए इस पवित्र स्थान को विश्वामित्र ने अपने आश्रम के लिए चुना था। उस पवित्र भूमि के दर्शन और सिद्धाश्रम में निवास से प्रसन्नचित्त हुए राम ने अपने गुरु से कहा—हे मुनिवर! भगवान् आपका कल्याण करें। आप आज ही दीक्षा लीजिए, ताकि आपका यज्ञ संपन्न होकर इस स्थान का सिद्धाश्रम नाम सार्थक हो जाए तथा आपकी वाणी सत्य हो जाए—

अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुङ्गव!
सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात्सत्यमस्तु वचस्तव॥

(बालकांड, सर्ग २९/३०)

प्रारंभ में यह कहते हुए राम विश्वामित्र से निवेदन करने लगे—गुरु महाराज! यज्ञ का श्रीगणेश किए जाने पर उसका विध्वंस करने के लिए राक्षस कब आकर आक्रमण करते हैं और उन्हें भगाने या मारने के लिए हमें कब सन्नद्ध तैयार रहना चाहिए; यह हमें पहले ही कृपया बता दें, ताकि राक्षसों का उसी क्षण सामना करते हुए आपके यज्ञ की रक्षा करना संभव हो सके। राक्षसों का सामना करने के लिए राम लक्ष्मण का उत्साह और वीरश्री का संचार देख सिद्धाश्रम के सभी ऋषि-मुनियों ने उनका अभिनंदन करते हुए उन्हें कहा—आज से छह रातें समाप्त होने तक तुम दोनों को यज्ञ की रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। इस अवधि में विश्वामित्र मौन व्रत रखेंगे, किसी से भी बोलेंगे नहीं।

मुनियों के आदेश के अनसार ६ दिन और ६ रात जगते हुए राम-लक्ष्मण ने आश्रम और यज्ञ की रक्षा की। पहले पाँच दिन तो राक्षसों की ओर से कोई विशेष बाधा नहीं हुई पर छठा दिन उगते ही राम एकदम सावधान हो गए और लक्ष्मण को भी हिदायत दी— जागते रहो, देखते रहो। लक्ष्मण को सतर्क रहने के लिए राम कह ही रहे थे कि इतने में अचानक यज्ञ की वेदी, दर्भ, समिधा और अन्य सामग्री से धधकने लगी। राक्षसों के तूफानी हमले की यह पूर्व सूचना थी। क्षण मात्र बीता होगा कि आकाश से मारीच और सुबाहु दो महापराक्रमी राक्षस अपनी पूरी सेना के साथ सिद्धाश्रम पर लपकते हुए दिखाई दिए। सारा आकाश मानो बादलों से ढक गया हो, चारों ओर अँधेरा फैल गया। समस्त राक्षस आकाश से यज्ञ वेदी पर रक्त और मांस की वर्षा करने लगे। एक क्षण की भी देरी किए बिना मंत्रोच्चार करते हुए राम ने मारीच के वक्षःस्थल पर मानवास्त्र छोड़ा। उस तीव्र वेग वाले अस्त्र से बेहोश होकर वह सैकड़ों मील दूर समुद्र में गिर पड़ा। पहले मारीच का काम तमाम कर राम ने आग्नेय अस्त्र फेंककर सुबाहु के सीने पर प्रहार किया। प्रहार होते ही निष्प्राण हो सुबाहु का शरीर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ा। बचे-खुचे राक्षसों पर वायव्यास्त्र छोड़कर उनके आक्रमण को ध्वस्त कर दिया। छठा दिन और रात बीत गई। यज्ञ सुरक्षित संपन्न हुआ। अपनी आँखों के सामने यज्ञ का विनाश करनेवाले राक्षसों का राम के हाथों संहार होता देख सारे ही मुनियों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। बड़े ही आदर के साथ उन्होंने राम की पूजा की । यज्ञ सिद्ध हो जाने से प्रसन्नमना विश्वामित्र ने अमंगल रहित दिशाएँ देखकर राम से कहा—हे महापराक्रमी! मेरी मनोकामना पूरी हुई। गुरु के द्वारा किए गए संकल्प को तुमने संपन्न कराया। हे महत्कीर्तियुक्त राम! इस आश्रम के नाम 'सिद्धाश्रम' को तुमने सत्य सिद्ध कर दिखाया। राम का इस प्रकार से अभिनंदन कर वे राम-लक्ष्मण के साथ संध्योपासना में प्रवृत्त हुए—

निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत्।
कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया॥
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः।
स हि रामं पुरास्यैवं ताभ्यां संध्यामुपागमत्॥

(बालकांड, सर्ग ३०/२६-२७)

रामायण से ही इस तथ्य का हमें भान हुआ कि भगवान् विष्णु ही मनुष्यावतार में राम थे। रावण वध पुनीत कार्य के लिए भले ही राम देवता का अवतार हो, वे थे तो मनुष्य का शरीर धारण करने वाले ही। चूँकि ईश्वरीय कार्य के लिए राम ने जन्म लिया था, इसलिए अन्य युवकों की अपेक्षा उनमें बुद्धि वैभव, ग्रहण क्षमता, सामर्थ्य और गुरुओं के प्रति विनम्र भाव अधिक था, फिर भी वह हवा में उड़नेवाला युवा नहीं था। यथार्थ की भूमि पर ही उसके पैर रहते थे। बचपन में ही उसके अतुलनीय पराक्रम की झलक दिखाई दी। विकास के लिए बिलकुल सही समय पर विश्वामित्र ने राम को माँगकर दशरथ और

कौशल्या की स्नेह छाया से उसे बाहर निकाल सके; यह विचारणीय महत्त्वपूर्ण बात है। इस प्रसंग में गुरु के रूप में विश्वामित्र का स्थान विशिष्ट माना जाना चाहिए। योग्य उम्र में, सही समय पर, किशोर से युवा होने के मोड़ पर किसी को योग्य गुरु प्राप्त होना यह मानव जन्म की बहुत बड़ी उपलब्धि है। हमारी संस्कृति गुरु सद्गुरु में बहुत बड़ा फर्क है। अपने सुयोग्य शिष्य को प्राप्त कर धन्य-धन्य होने वाला और शिष्य को देह-भावना से निकालकर देव-भावना का अनुभव कराने वाला सद्गुरु होता है। वास्तव में गुरु वह ही है, बाकी विधाएँ सिखानेवाले शिक्षक हैं, गुरु नहीं। शिष्य में छिपे महापुरुष के गुणों की जो पहचान सकने की क्षमता रखता हो, ऐसा द्रष्टा महापुरुष गुरु कहलाने का अधिकारी है। कृष्ण 'महान्' है यह सांदीपनि महर्षि ही पहचान पाए, सम्राट् चंद्रगुप्त की योग्यताओं को आर्य चाणक्य ही समझ सकते थे, हनुमान् के दास्यभाव को राम जान पाए, कल्याण स्वामी का सेवाभाव समर्थ रामदास ही अनुभव कर पाए, संत एकनाथ की एकाग्रता को जनार्दन स्वामी ही परख सके और अपने आस-पास के परिवारों में से नरेंद्र की योग्यता समझने की शक्ति रामकृष्ण परमहंस में ही थी। युग-प्रवर्तक महापुरुष को निर्माण करने के लिए उससे भी अधिक योग्यता का 'महागुरु' या सद्गुरु चाहिए। यह सनातन सत्य है। इसे कौन नकार सकता है? हिंदू संस्कृति की जड़ें हिंदुस्तान की भूमि पर गहरी पैठी हुई हैं। ऐसे गुरु-शिष्यों के कारण ही इसे हम भूल नहीं सकते।

मान लीजिए, विश्वामित्र-राम की भेंट होती ही नहीं तो रावणहंता के रूप में राम की कीर्ति दिगंत में फैलती ही नहीं। ऐसा हमारा आशय नहीं है, परंतु बाल अवस्था में राम को विश्वामित्र जैसा गुरु मिलने से ही वे बचपन में ही 'रक्षः कुल हंता' के रूप में प्रसिद्ध हुए। अस्त्र समृद्ध हुए और यज्ञ के निमित्त से ताडका व सुबाहु का वध करने का अवसर भी उन्हें हाथ लगा। राम की उम्र भले ही बाल्यावस्था की थी, पर उसका तेज 'बाल' नहीं था। उस तेज को पहचानने की क्षमता विश्वामित्र में ही थी। किसी मनुष्य में यदि कोई अलौकिक शक्ति है तो वह बचपन में भी प्रकट हुए बिना नहीं रहती है। परंतु उस अलौकिक सत्त्वशक्ति को जाननेवाला व क्रम-क्रम से उसे विकसित करनेवाला गुरु भी बचपन में ही मिलना चाहिए। वैसे गुरु राम को मिले और उसके भावी पराक्रम पुरुषार्थ की उन्होंने तैयारी की। अपने आश्रम में प्रवेश से पूर्व ही विश्वामित्र ने राम को अस्त्र-विद्या दी और आश्रम में आने पर यज्ञ के निमित्त से राम की अस्त्र-विद्या की परीक्षा भी ले ली। ताडका और सुबाहु सहित हजारों राक्षसों का विध्वंस कर राम भी विश्वामित्र द्वारा ली जा रही परीक्षा में खरे उतरे। सही समय पर और योग्य शिष्य को तपःपूत एवं मंत्रगर्भित अस्त्र-विद्या सिखाने का विश्वामित्र को यदि अपूर्व अलौकिक आनंद हुआ तो क्या आश्चर्य है? शिष्यों का कल्याण चाहने वाले गुरु (मास्टर साहब, प्रोफेसर नहीं) प्रायः योग्य शिष्य की अन्वेषणा में लगे रहते हैं, यही सही है।

□

राम में विश्वरूप दर्शन

महर्षि विश्वामित्र ने महाराजा दशरथ से राम को माँग लिया था अपने यज्ञ की रक्षा के लिए। उनकी अपेक्षा थी कि धनुर्विद्या के बल पर राम राक्षसों का विध्वंस यदि करें तो उनका यज्ञ कार्य बिना किसी बाधा के संपन्न हो सके। अपनी स्वयं की धनुर्विद्या की निपुणता के साथ ही विश्वामित्र के अनुग्रह से प्राप्त अस्त्र विद्या की समृद्धि से राम अतुलनीय योद्धा प्रमाणित हुए। उन्होंने अपने बाहुबल से ताडका, सुबाहु तथा अन्य राक्षसों का संहार कर गुरु विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न सिद्ध कराया। यहीं पर दशरथ से जिस कार्य के लिए विश्वामित्र ने राम को माँग लिया था, वह कार्य तो संपन्न हो गया। अब उद्देश्य सिद्ध होने पर अयोध्या जाकर विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को दशरथ के सुपुर्द करते, पर वैसा नहीं हो पाया।

पूर्व-संकलित यज्ञ का सत्कार्य पूरा होने पर राम-लक्ष्मण (आज की तरह अपने माता-पिता) दशरथ के पास जाने की जिद करते पर उसे छोड़िए, रामायण में ऐसा कोई संकेत भी उपलब्ध नहीं है। इन दोनों भाइयों ने अपने माता-पिता या अयोध्या की 'याद आती है' के बारे में कुछ कहा हो। अपना मंतव्य सिद्ध होने पर राम-लक्ष्मण को अयोध्या भेजकर विश्वामित्र को अपने वचन का पालन कर वाणी को प्रमाणित करना चाहिए था। पर इस बारे में न विश्वामित्र तत्पर थे, न ही राम-लक्ष्मण ने कोई सावधानी बरती, न वाल्मीकि को कुछ याद था।

अपना यज्ञ कार्य पूरा होने पर विश्वामित्र को चाहिए था कि वे राम-लक्ष्मण के साथ अयोध्या चले जाते और यदि वास्तव में वे चले गए होते तो उस स्थिति में क्या होता? रामायण कैसे होती? न अहल्या का उद्धार होता, न राम शिव-धनुष को भंग करते और न ही राजा जनक की कन्या राम की पत्नी हो पाती! सीता से विवाह ही नहीं होता तो न तो रावण के द्वारा सीता का अपहरण किया जाता, न राम के हाथों रावण मारा जाता। उस स्थिति में लक्ष्मण, हनुमान और भरत तो बेचारे अँधेरे के साये में ही रह जाते।

सुग्रीव-विभीषण का पटल पर उदय ही नहीं होता। बाली, जटायु, गुह, चित्रकूट और लंका अपने नामोल्लेख के लिए भी तरसते रहते। न अंत में सीता मैया धरती में समा जातीं और सबसे मुख्य बात यह कि न तो रामायण अमर होती और न ही वाल्मीकि महाकवि कहलाते।

अपने कार्य की सिद्धि होने पर भी विश्वामित्र के राम-लक्ष्मण को लेकर अयोध्या न लौटने से ही समग्र रामचरित्र रामायण के माध्यम से काव्यबद्ध हो सकी और इस काव्य के अमर हुए चरित्रनायक के आदर्शों पर ही हिंदू संस्कृति अब तक सुदृढ़ रूप से स्थिर रह सकी है। दशरथ को दिए हुए वचन की पालना यदि विश्वामित्र कर लेते तो क्या होता, कोई कहने की स्थिति में नहीं है। परंतु इतना तो चिर सत्य है कि हिंदू संस्कृति के लिए तेज: पुंज प्रकाश के महाद्वार कभी नहीं खुल पाते। सिद्धाश्रम से घर लौटने के लिए यदि राम-लक्ष्मण वापिस मुड़ जाते तो संसार की सभी रावण-प्रवृत्तियों के समक्ष सारी सत्प्रवृत्तियाँ नतमस्तक होकर नष्ट हो जातीं। राम के वापस मुड़ने से मानव की विकास प्रक्रिया ठप्प पड़ जाती और मनुष्यमात्र 'अमानुष' हो जाता। रावण मूलत: मनुष्य देहधारी होते हुए भी अमानुष हो गया था। राम के वापस जाने का मतलब हनुमान् का अप्रकट रहना था और उस हालत में तामसी वृत्तियों पर सात्त्विक प्रवृत्तियों का आक्रमण न होकर लंका दहन होता ही नहीं। राम के लौटने पर पिता दशरथ तो पुलकित हो जाते, परंतु रावण के जाल से असहाय स्त्री की मुक्ति के लिए शहीद होनेवाले जटायु की वीर गाथा के सुरीले स्वर कभी सुनाई नहीं देते। राम यथाकथचित् लौटते तो विकासोन्मुख मानवता को क्रूरता के नाखूनों से घायल करनेवाले रावण का सर्वनाश कौन करता। यदि राम सिंहासन को स्वीकार करते तो खून की एक बूँद गिराए बिना अयोध्या का साम्राज्य भरत के पल्ले थोड़े ही पड़ता और न ही रघकुल के चारों भाइयों के उदात्त-चरित्र से हम परिचित हो पाते। राम का अग्रसर होते रहना ही सारे संसार के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उनके लौटने से सारी मानवता अंधकार के गर्त में धकेल दी जाती। बंधुओ! इसीलिए विश्वामित्र ने अयोध्या की ओर फिर मुँह नहीं किया।

वस्तुत: दशरथ का राम पर अत्यधिक स्नेह था। विश्वामित्र का यज्ञ संपन्न होने या ताडका आदि राक्षसों का संहार होने की खबर उन तक तो पहुँची ही होगी। अयोध्या में चर्चा भी हो रही होगी। अब राम घर लौट आएँगे। यह तो उनको प्रतीत हुआ ही होगा या विश्वामित्र का कार्य हो जाने पर राम भी नहीं लौटे तो पूछताछ या खोजबीन के लिए दशरथ अपने दूतों को भेज ही सकते थे, परंतु राम-लक्ष्मण के न लौटने से दशरथ के विचलित होने का या संदेह में पड़ने का कोई भी संकेत रामायण में कहीं पर भी दिखाई नहीं देता है। कम-से-कम कौशल्या तो उत्कंठित हो जाती! किंतु रामायण में ऐसा कोई संकेत या चर्चा नहीं है।

महर्षि विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का कल्याण ही होगा, यह दृढ़ भावना दशरथ के मन में रही होगी। शायद इसीलिए उसे पुत्रों के आने की प्रतीक्षा न रही। एक कारण यह भी रहा हो कि दशरथ का विश्वामित्र में अटूट विश्वास था। इसलिए राम-लक्ष्मण के सकुशल लौटने में उसे कोई संदेह नहीं था। सबसे महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि स्वयं कुलगुरु व सिद्धजी ने ही पुरजोर शब्दों में सिफारिश की थी। विश्वामित्र भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि दशरथ ने संपूर्ण विश्वास के साथ ही पुत्रों को उन्हें सौंपा है। राम ने भी बिना ना-नकुर किए विश्वामित्रजी की आज्ञा पालन करना स्वीकार कर लिया। हमारी समझ में इस सारे घटनाक्रम का मूल कारण विधाता का लेख था। किसी ने कहा भी है—

जो लिखे विधि के अंक मिटै ना कोई॥

विश्वामित्र ने कदाचित् 'भावी' को देख लिया हो या कालपुरुष ने ही अपने राम-लक्ष्मण को न भेजने के लिए प्रेरित किया हो। हैं तो ये सभी अनुमान ही। पर कार्य-सिद्ध होने पर भी राम-लक्ष्मण के अयोध्या न लौटने की घटना में भविष्य के गर्भ में छिपे रामचरित्र की झलक दिखाई देगी, यह हमें स्वीकार करना होगा।

सिद्धाश्रम से आगामी यात्रा में राम-लक्ष्मण को ले जाने की प्रेरणा विश्वामित्र को क्यों हुई? औरों की अपेक्षा राम में उन्होंने निश्चित ही कोई गुण या योग्यता देखी होगी। राजा दशरथ के दरबार में जब राम-लक्ष्मण को बुलाया गया था, उसी क्षण पहली बार विश्वामित्र ने राम को देखा था। वह राम का उनके लिए प्रथम दर्शन था।

इस प्रथम दर्शन में ही विश्वामित्र की तप:पूत दृष्टि ने राम के व्यक्तित्व की अलौकिकता का अनुभव किया होगा। राम की देहमूर्ति में विश्व के साकार होते आर्त स्वरूप को देखा होगा। राम के प्रथम पदन्यास में ही 'विश्व के तारणहार' का प्रत्यक्ष उन्होंने किया हो। रावण के आतंक से भयभीत त्रिलोकी की रक्षा के लिए संस्कृति के स्वरूप और चारित्र्य रूपी बाण लेकर पृथ्वी पर पदार्पण करने वाले राम के महापुरुषत्व की महर्षि विश्वामित्र को अनुभूति हुई हो। सारे विश्व के अंधकार को नष्ट कर सकने वाले मानो 'द्वितीय सूर्य' के दर्शन उन्हें राम में हुए। पदस्पर्श से ही नहीं, पैरों की धूलि से ही पीड़ित-दलितों के उद्धारक का रूप उन्होंने राम में देखा। दशरथ की राजसभा में हुए राम के प्रथम दर्शन में विश्वामित्र को विश्वरूप का दर्शन हुआ होगा। इसीलिए पीछे छूटी अयोध्या की ओर महर्षि ने मुड़कर देखना उचित नहीं समझा।

□

राम की स्थितप्रज्ञता

किसी शिष्य को मिलनेवाले गुरु का कार्य विद्या देने तक ही सीमित नहीं होता है। शिष्य का हित चाहते और करते हुए उसका सर्वांगीण विकास, कल्याण करने वाला गुरु ही सद्गुरु होता है। एक बार दशरथनंदन राम का दायित्व स्वीकारने पर वह सवेरे से रात तक क्या-क्या कर रहा है, इस पर भी विश्वामित्र का ध्यान था। राम सम्राट् दशरथ का ज्येष्ठ पुत्र, युवराज था; इसलिए उसका बचपन शानो-शौकत और आराम से गुजरना लाजमी था। जन्म से ही राजसी वैभव के उपभोग का आदी राम जैसा राजकुमार जब बिना दास-दासियों, नौकर-चाकरों और सुरक्षा में तैनात सैनिकों के विश्वामित्र के साथ निर्जन अरण्य में जाने के लिए निकला हो तो उसके मन पर क्या बीत रही होगी?

इस संदर्भ में पहले तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि राजप्रासाद से निकलते हुए न तो राम-लक्ष्मण ने टसुएँ बहाए और न ही जाते हुए बार-बार मुड़ते अपने माँ-बाप को देखते हुए उनकी हिचकियाँ बँधी। संभवत: इसीलिए कि किशोरावस्था पार करते-करते राम में प्रौढ़ता आने लगी थी। अलावा इसके, उसका स्वभाव दृढ़-निश्चयी था। एक बार किसी काम को हाथ में ले लेने पर दूसरा कोई विचार भी उसे छू नहीं पाता था। उसकी दृष्टि में अत्यंत आत्मविश्वास था। आवाज के कार्य सिद्ध करने की क्षमता की जबरदस्त थी, हाथों में धनुर्वेद की सहज सिद्धता थी और पदन्यास में त्रिलोकी का विजय कर पाने की अद्भुत क्षमता। विश्वामित्र राम की इस प्रकार की अद्भुत गुण-संपदा को पहचान गए थे, इसीलिए बिना माँगे, चाहे विश्वामित्र ने अपनी अस्त्रविद्या राम को सिखाने में कोई कोताही नहीं बरती।

अयोध्या से राम पहली बार ही बाहर निकल रहे थे, उन्हें अकेले यात्रा करने या पैदल ही चलते जाने का कोई अभ्यास थोड़े ही था? पर उन्होंने कोई शिकायत नहीं की, उनके चेहरे पर हलकी सी भी शिकन नहीं आई, न ही विश्वामित्र की उपस्थिति से स्वयं के निरुपाय होने की कोई भावना उसके मुखमंडल पर दिखाई दी। राम की युवावस्था में

यही अलग सी विशेषता थी। विष्णु भगवान् का अंश होने से व उत्तम कुल में जन्म लेने से उत्तम गुणों से वह संपन्न थे। राजपरिवार में, इस संसार में रहते हुए वह किसी में लिप्त या आसक्य नहीं था, उसका मन न कहीं फटका, न कहीं अटका। संसार में श्रेष्ठ पुरुषों की गुणसंपदा से वह समृद्ध था, अपने आदर्शों के अन्य किसी विषय में उसका मन नहीं अटकता था। भरे-पूरे संसार में रहते हुए भी वह अकेला, एक ही था। राजकुल में पैदा होने पर भी वह योगी-राजयोगी ही था। राम के जन्मतः प्राप्त इन गुणों और वैशिष्ट्यों को दृष्टिगत रखते हुए 'राम में रमे अपरिचित' राम को हमें पहचानना है। इसीलिए यहाँ भगवती सरस्वती को कष्ट देना पड़ रहा है।

अयोध्या से बाहर निकलते ही विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का पहला रात्रि-विश्राम सरयू नदी के किनारे हुआ। अब वहाँ पर सोने के लिए क्या व्यवस्था थी और कौन करता? रात को सोना जरूरी था। राजप्रासाद के वैभव का उपयोग करने के आदी ये बंधुद्वय और उनके विश्वमान्य गुरु कहाँ पर और कैसे सोएँ। महर्षि वाल्मीकि ने देखिए कैसा सुंदर वृत्तांत दिया है—

दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां तृणशयनेऽनुचिते तदोषिताभ्याम्।
कुशिक सुतवचोऽनुलालिताभ्यां सुखमिव सा बिभौ विभावरी॥

(बालकांड, सर्ग २२/२४)

अर्थात् अपने लिए अनुपयुक्त और पूर्वतः अनुभव न की गई घास की शय्या पर लेटे-लेटे विश्वामित्र के वात्सल्य भरे वार्त्तालाप के कारण, दशरथ के उन दोनों राजपुत्रों की वह रात्रि सुख चैन से बीत गई।

राजप्रासाद और अपनी राजधानी से दूर नदी के किनारे घास पर सोते हुए भी राम-लक्ष्मण की वह रात चैन और आराम से बीती, अर्थात् उन्हें अच्छी प्रगाढ़ नींद आई। ठीक युवावस्था में, शरीर राजकीय उपभोगों का आदी होने पर राम ने यहाँ जो संयम रखा, उस पर किसी ने विचार ही नहीं किया है। रामकथा को जाननेवाले लोग इतना जानते हैं कि राम ने लक्ष्मण को साथ लेकर विश्वामित्र के साथ अयोध्या छोड़ी। मार्ग में राक्षसी ताडका का वध किया, मारीच को दूर समुद्र में फेंक दिया और सुबाहु तथा बचे-खुचे राक्षसों का संहार कर अपने गुरु विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की। ये सतही, ऊपर-ऊपर की कथा हुई। अरे भाई, अयोध्या छोड़ी तब से वह कहाँ रहा, कहाँ सोया, क्या खाया। सवेरे से रात तक उसका समय कैसे गुजरता गया। यह जानना भी उसके पराक्रम को जानने जितना ही जरूरी है। दिन भर अस्त-व्यस्त आलसी और अव्यवस्थित रहनेवाला युवा कोई महान् कार्य कर यश प्राप्त करेगा या प्रत्येक क्षण के महत्त्व को समझते हुए उसे सत्प्रवृत्तियों में लगाने वाला युवक यशस्वी होगा, इसकी चर्चा यहाँ पर करना ही बेकार है। पर्याप्त

(अति नहीं) उत्साह के साथ जीवन के उच्च आदर्शों को पाने की उत्कट इच्छा वाले आत्मविश्वासी युवक ही जीवन के हर क्षण का मूल्य समझ सकते हैं। हर क्षण उनके लिए एक आह्वान के साथ सामने आता है। अनुकूल हो या प्रतिकूल, ध्येय से अनुप्राणित युवा हर स्थिति में अविचल-मेरू की तरह रहता है। जैसे हजारों नदियाँ सागर में समा जाती हैं और भीषण गरमियों में वे सूख जाती हैं, पर सागर न तो उनके स्वागत में उछलता है, न ही नदियों के सागर तक न पहुँच पाने पर उसके मन में मलाल या दुःख होता है। सागर की दृढ़ता को देखिए। राम के जैसा निश्चयी पुरुष सागर की तरह गंभीर-धीर होता है। इसलिए राजप्रासादों में उपलब्ध रत्नजटित पलंगों पर बिछे मखमल के मुलायम गद्दे न उसके सुख को बढ़ाते हैं, न ही पत्थरों पर घास बिछाकर तैयार की गई शय्या से उसे कोई पीड़ा या कष्ट का अनुभव होता है। यही चित्त या मन की स्थिरता स्थितप्रज्ञता कही गई है। इसे ही गीता में 'सुखदुःखे समे कृत्वा' आदि से व्याख्यायित किया गया है।

गुरु कैसे होने चाहिए, इसके उत्तम आदर्श महर्षि विश्वामित्र हैं। वे घास के तिनकों की शय्या पर सोते राम-लक्ष्मण का मनोरंजन करने की दक्षता दिखाते हैं। वैसे ही सवेरे उठने पर राम को अपने कर्तव्य की याद दिलाने से भी नहीं चूकते हैं। सर्वोत्तम शिष्य के रूप में राम के मिल जाने से यदि विश्वामित्र आनंदातिरेक से पुलकित होते रहते तब भी दोषार्ह नहीं थे वे! या यज्ञ-रक्षा का अपना काम निकाल लेने पर (आज के गुरुओं की तरह) वे राम-लक्ष्मण से अलिप्त भाव दरशाते तो भी कुछ हद तक उसे समझा जा सकता था—उसमें शायद 'मतलब निकल गया तो हम जानते नहीं' की बू नहीं आती। यज्ञ-संपन्न होने पर कदाचित् अयोध्या जाकर राम-लक्ष्मण को वापस सँभाल देते तो भी अयोध्या के नरेश और प्रजाजन उनका पहले की तरह सम्मान ही करते, परंतु जैसे राम का जन्म 'रावण-वध' के देवकार्य के निमित्त हुआ था। वैसे ही विश्वामित्र की तपस्या की सिद्धि युक्त देवकार्य के लिए राम का गुरुपद सुशोभित करने से ही होनेवाली थी। इस तथ्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

सरयू नदी के किनारे हवा के चलने से ठंडी होती गई रात में घास के बिस्तर पर सोते राम-लक्ष्मण क्या सोच रहे होंगे, इसकी चिंता विश्वामित्र को निश्चित हुई होगी। क्योंकि राज-वैभव के सर्वथा विपरीत तपस्वियों के इस ऐश्वर्य को बंधु द्वय किंचित् भी अन्यथा लें तो उसका परिणाम भावी यज्ञसिद्धि पर हो सकता था। इसलिए विश्वामित्र की चिंता अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। यही वजह है कि दोनों राजकुमारों की यह तपस्वियों के सदृश बीतने वाली पहली रात सानंद गुजर जाए, यही संभाषण के द्वारा मनोरंजन किए जाने का कारण रहा होगा।

सरयू के तीर पर बीतनेवाली राजपुत्रों की यह पहली रात सुखपूर्वक बीतने से वे

भावी यज्ञ-सिद्धि के कार्य को भी सिद्ध कर सकेंगे; इसका अनुमान विश्वामित्र को था। राम को दशरथ से उन्होंने स्वयं माँगा था, राम स्वयं चलकर विद्या की प्राप्ति के लिए उनके पास नहीं आया था, इसीलिए विश्वामित्र का अपने वाक्चातुर्य से शिष्यों के मनोरंजन को व्यवहार-चातुर्य के रूप में देखना चाहिए, संतुष्टीकरण की नीति के रूप में नहीं।

आखिर वह रात क्षीण होती गई। पूरब की ओर धुँधला प्रकाश दिखाई देने लगा। राम अभी भी प्रगाढ़ नींद में थे। निशा समाप्त हुई, तब घास की शय्या पर सो रहे राम-लक्ष्मण को संबोधित कर महर्षि विश्वामित्र ने कहा—हे राम! तुम्हें प्राप्त करने से कौशल्या पुत्रवती महिलाओं में श्रेष्ठ हो गई है। अब प्रातःकालीन संध्यावंदन का समय हो गया हो, जब भी सोते रहना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। हे पुरुष श्रेष्ठ! उठो। ईश्वर का चिंतन और अपने नित्यकर्म पूरे करो—

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे॥
कौशल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल! कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥

(बालकांड, सर्ग २३/१-२)

□

राम का नित्यकर्म

आह्निक शब्द की व्युत्पत्ति 'अह्न' से हुई है। अह्न का अर्थ है—दिन या दिवस। प्रतिदिन की जानेवाली धार्मिक विधि या उपासन, एक दिन में होने वाला या नित्यविधि यह आह्निक का अर्थ है। अहन् से अहोरात्र—दिन और रात्रि।

आह्निक का उपयोग नित्यकर्म के अर्थ में भी किया जाता है—नित्य-नियम से अथवा प्रतिदिन शुभ कर्म करना। नित्यकर्म के बिना जीवन जीने में मनुष्य और पशु के जीवन-क्रम में कोई विशेष अंतर नहीं है। हमारे मन पर शुभ-मंगल कर्म के संस्कार हों और हमें प्रतिदिन, प्रति घड़ी ईश्वर का समरण रहे, इसी आशय से हमारे पुरखों ने नित्यकर्म की परिपाटी चलाई। धर्मशास्त्रों की मान्यता और जनमानस उसके प्रति कर्मठता ने समाज में उसे दृढ़ आधार प्रदान किया। 'कर्तव्यं दैवमाह्निकं' कहकर विश्वामित्र ने राम को इसी आचार-सरणी का स्मरण कराना चाहा था। वैसे राजप्रासाद के दैनिक जीवन में राम नित्यकर्म करता ही रहा होगा। उसी तरह पर सरयू नदी के किनारे भी वह प्रवृत्त हो ही जाता और अयोध्या में यदि वह नित्यकर्म करता ही न हो तो विश्वामित्र के कहने से प्रवृत्त न भी होता। फिर भी विश्वामित्र के उपदेश को गुरु की शिष्य के प्रति अतिरिक्त दक्षता के रूप में लिया जा सकता है।

विश्वामित्र की आधी से अधिक उम्र बीत चुकी थी—बिना नित्यकर्म में व्यतिक्रम किए। शेष जीवन में व्यतिक्रम की कोई संभावना नहीं थी। राम तो अभी जवानी की दहलीज पर ही खड़ा था, इसलिए गुरु के स्वत: प्राप्त अधिकार का उपयोग करते हुए विश्वामित्र के द्वारा राम को नित्यकर्म के लिए उपदेश किए जाने से नित्यकर्म की प्रक्रिया को भी एक अलग तरह की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। राम के मन में नित्य कर्म के होनेवाली आस्था इस उपदेश से द्विगुणित हो जाती है और यह उपदेश एक प्रकार से रामायण के पाठकों और श्रोताओं को भी प्रेरित करेगा। यह भी महर्षि का उद्देश्य रहा होगा और तपस्वी मुनि तो शुभकर्मों के जन-जन की आस्था को स्थिर

करना निश्चित रूप से चाहते होंगे।

नित्यकर्म पहला चरण है। इसी में से अनुष्ठान, सप्ताह, साधना, पुरश्चरण और उपासना की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हो सकती है। एक निश्चित समय, निश्चित स्थान पर प्रतिदिन एक विशिष्ट प्रक्रिया से नित्यकर्म करने की मन और शरीर को आदत पड़ जाने से ही वह साधना में प्रवृत्त होने के योग्य बनता है। अपने बच्चे को दूध, दूध-चावल, रोटी का एक कौर यों करते-करते खाने का अभ्यास कराते हैं, तब वह बड़ा होते-होते सबकुछ खाने लगता है। वही साधना और उपासना की स्थिति है। शुद्ध और उत्तम भोजन से शरीर दृढ़ होकर मुखमंडल पर एक तेज या आभा आती है, उत्साह बना रहता है। वैसे ही नित्यकर्म से प्रारंभ होने वाली उपासना की प्रक्रिया से मन सुविचारी, संयमी, सुसंस्कार, विवेकयुक्त तथा शांत-प्रवृत्तियों से निर्मल बन जाता है। हरेक व्यक्ति तपस्वी नहीं बन सकता, न बनता है। तपस्वी बनने के लिए हर किसी का जन्म भी नहीं होता है, इसीलिए नित्यकर्म की उपयोगिता है, करने के आसान, न थकानेवाली यह प्रक्रिया है। हमारा मन चंचल है, बिना लगाम के घोड़े की तरह चारों ओर दौड़नेवाला है। उसे नित्यकर्म ही स्थिर कर सकता है। वह लगाम का काम करता है। वाम और काम मार्ग के प्रति उसका आकर्षण कम होता जाता है। सत्कर्म के प्रति व्यक्ति की रुचि बढ़ती है, सत्कर्म श्रवण में उसे आनंद की अनुभूति होती है, धीरे-धीरे व सत्कर्मों में प्रवृत्त होने लगता है। सिकंदर की तरह संसार को फिर भी धन-सैन्य बल से जीता जा सकता है, परंतु तापमापी के पारे की तरह चंचल मन को स्थिर करना, शांत करना कठिन है। विश्वविजय एक प्रकार से लौकिक घटना है, परंतु अपने ही मन पर विजय पाना अलौकिक उपलब्धि है। मन जिसने जीत लिया उसने संसार जीत लिया। इसीलिए कहते हैं—मन के जीते जीत, मन के हारे हार'। संसार के सभी महात्माओं और महापुरुषों के जीवन में नित्यकर्म ने ही उन्हें अखंड तपस्या में प्रवृत्त किया है। तभी वे पुरुष से महापुरुष हुए।

प्राचीन काल में नित्यकर्म का अर्थ स्नान, संध्या, पूजा-अर्चना लिया जाता रहा। पर आज नित्यकर्म शब्द का अर्थविस्तार हुआ है, वह प्रौढ़ हुआ है। आज के परिप्रेक्ष्य में हमने जो काम हाथ में लिया है, उसे कर्तव्य भावना और निष्ठा से आखिरी दम तक करते रहना यह अर्थ लेना उचित होगा। किसी पद पर नियुक्त होने पर 'इस पद के कर्तव्यों का निर्वाह निष्ठा और लगन से करूँगा' यह प्रतिज्ञा लिखित में करने के पश्चात् ही पद भार ग्रहण किया जाता है। मंत्री और न्यायाधीश इत्यादि बड़े-बड़े लोग सार्वजनिक रूप से शपथ लेते हैं। शपथ-ग्रहण का समारोह आयोजित होता है। फिर वे पदभार स्वीकार करते हैं। ऐसे स्वीकार किए गए कार्य को निष्ठा से निभाते रहना ही आज का नित्यकर्म होना चाहिए, परंतु कुल-परंपरा या धार्मिक विधिविधान के नित्यकर्म के कारण यदि कोई व्यक्ति अपने पद के नियत कार्यों के प्रति लापरवाही बरतता है तो उन धार्मिक नित्यकर्मों

की शेखी बघारने का महत्त्व नहीं के बराबर हो जाता है। घर के नित्यकर्म करने का बाह्यत: यह प्रभाव दिखाई दे सकता है कि वह व्यक्ति अपने कार्यालय के काम भी वैसे ही करता होगा या कर सकेगा, पर प्राय: यहाँ विरोधाभास देखा गया है। नवरात्रि या पितृपक्ष के श्राद्धों के बहाने प्राय: लोग कार्यस्थल से नदारद ही हो जाते हैं। यज्ञ कार्य संपन्न करना राम के द्वारा किया हुआ व्रत था, प्रतिदिन का नित्यकर्म उसकी साधना थी। अपने मुख्य कार्य को छोड़कर मानिए कि राम त्रिकाल संध्या और जप-तप में लगा रहता तो यह काम करनेवाले ऋषि-मुनियों की सिद्धाश्रम में कमी नहीं थी। विश्वामित्र के पास यह कार्य करनेवाले बहुतेरे ऋषिकुमार थे। फिर भी उन्होंने दशरथ से राजकुमार माँग लिये थे। सरयू के तीर पर संध्या और जप के लिए नहीं, बल्कि राक्षसों के संहार के लिए। इस बात पर गौर करने की जरूरत है।

विश्वामित्र ने राम से कहा—

पूर्वा संध्या प्रवर्तते। कर्तव्यं देवमाह्निकम्।

अर्थात् प्रात: संध्या का समय हो गया है। (अब सोते रहना ठीक नहीं!) उठो, ईशचिंतन करो, अपने नित्यकर्म में लग जाओ।

दोपहर, शाम, रात-बेरात तो विश्वामित्र राम को नित्यकर्म के लिए प्रेरित नहीं कर रहे थे। वह भोर का समय था, यह महत्त्वपूर्ण बात है। मंदिरों में आज भी पहली पूजा भोर में ही करने की प्रथा है। वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में भोर में होनेवाले भगवान् के मंगला-दर्शन के लिए कितनी भीड़ उमड़ती है, हम देखते ही हैं। हिमालय या पहाड़ियों पर रहकर भली भोर में ही तपस्वी अपना नित्यकर्म प्रारंभ करते हैं। घरों में होनेवाली पूजा या पाठ प्रात: ही संपन्न किए जाते हैं। सूर्योदय में नित्यकर्म स्मरण कराना कदाचित् यह संकेत देता है कि सूर्योदय के साथ-साथ नित्यकर्म करने की प्रथा रामायण से भी पहले की होनी चाहिए।

इस स्मरण से यह भी ध्वनित होता है कि त्रेतायुग में घर-घर में और मंदिरों जैसे सार्वजनिक स्थानों पर सूर्योदय के साथ ही नित्यकर्म और उपासना परंपरा सुदृढ़ हो गई थी। कोई किसी भी जाति या वर्ण का हो, यह प्राय: मान लिया गया था कि सर्वसाधारणत: मनुष्य-मात्र नित्यकर्मपरायण था। बाह्य-भौतिक वस्तुओं का आकर्षण बढ़ने पर नित्यकर्म या उपासना के प्रति श्रद्धा विचलित होने लगती है। नित्यकर्म से अंतर्मुख होकर साधना करनेवाले व्यक्ति को नित्यकर्म के प्रति अश्रद्धा होने पर बहिर्मुख होने में कोई समय नहीं लगता है। कुछ क्षणों का ही फेर है। नित्यकर्म छोड़ते ही सत्कर्मों से विरक्त हो जाता है। ऐसे छोड़कर जाते हुए सत्कर्मों का स्थान असत्कर्म लेंगे ही, उनका क्या दोष?

दुर्वासना, अविचार, असत्कर्म, अनीति और अविवेक, असत्य जैसी वाममार्गी

शक्तियाँ मनुष्य पर हावी होकर उसे राक्षस बनाने के लिए तैयार ही रहती हैं। वे इंतजार में ही होती हैं कि कब शिकार हाथ लगे। ऐसी शक्तियों को नियंत्रण के लिए पीले चावल देने की जरूरत ही नहीं रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की शक्तियाँ कभी सुप्त तो कभी जाग्रत्, कभी निराकार तो कभी साकार रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं ही। रह जाती है बात हमारे जानने की। वे न दिखाई दें और न ही हम उनके शिकार बनें, इसलिए उगते सूर्य की साक्षी में हम अपने नित्यकर्म और उपासना को जारी रखें यही उचित है।

बचपन से जो संस्कारित हैं, वे संध्यादि करेंगे, पर जिन्हें ये संस्कार नहीं मिले वे कम-से-कम भगवान् के सामने खड़े होकर सुबुद्धि और सुविचार के लिए प्रार्थना तो कर ही सकते हैं या स्नान के बाद हरिपाठ या मानस की चौपाइयों का पाठ कर सकते हैं। ऐसा नित्यपाठ या नित्य प्रार्थना भी नित्यकर्म ही है।

राम राजप्रासाद में जो नित्यकर्म करते होंगे, उन्हें यात्रा में भी करना चाहिए, यह कहकर विश्वामित्र हमें भी यह सुझाना चाहते हैं—आप घर में हों या कार्यालय में, सभा में हों या संसद् में, बैठे हो या यात्रा में हो, नित्यकर्म से मुँह मत मोड़िए।

□

राम की गायत्री साधना

विश्वामित्र के द्वारा भली भोर में राम को नित्यकर्म का स्मरण कराने के पश्चात्—

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जपतुः परमं जपम्॥

(बालकांड, सर्ग २४/३)

विश्वामित्र के इन उदार वचनों को सुनकर उन दोनों वीर भाइयों ने अर्घ्य दिए तथा सर्वोत्तम जप (गायत्री) किया। उक्त श्लोक में भले ही गायत्री का शब्दशः निर्देश नहीं है तथापि संध्यावंदन विधि में अर्घ्य के साथ गायत्री मंत्र ही यहाँ अभिप्रेत है। गायत्री मंत्र की परंपरा अति प्राचीन, वैदिक काल से चली आ रही है। व्रतबंध संस्कार में गुरु या पिता बटु के कान में (गुप्त रूप में) इसी मंत्र की दीक्षा लेते हैं। इस मंत्र की दीक्षा के बाद ही बटु वेदाध्ययन के लिए योग्य माना गया है।

तत्कालीन प्रथा के अनुसार राम-लक्ष्मण भी प्रातः तथा सायं नित्य संध्या और गायत्री मंत्र का जाप करते थे। 'सरयू नदी में स्नान कर उन्होंने संध्या की तथा गायत्री मंत्र का जप किया।' इस बात का वाल्मीकि द्वारा उल्लेख किया जाना ही गायत्री मंत्र की महत्ता सिद्ध करता है। इस श्लोक में गायत्री को 'परम मंत्र' कहा गया है। अर्थात् सभी प्रकार के प्रचलित-अप्रचलित मंत्रों में इसे श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि यह सिद्धमंत्र है। चारों ही वेदों में चौबीस अक्षरों का एक जैसा मंत्र उपलब्ध होता है। वेदमाता उपाधि से यही मंत्र सम्माननीय हुआ है। इसके अलावा संसार भर में जो-जो सिद्ध पुरुष हुए हैं, उन्होंने अपनी आध्यात्मिक उपासना में इसी मंत्र का जाप किया है। पापमुक्ति के द्वारा यही मंत्र अपनी बुद्धि को शुद्ध करता है।

किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए गायत्री मंत्र जैसा दूसरा प्रभावी मंत्र है ही नहीं। यदि पुरश्चरण करना है तो प्राचीन काल से इसी मंत्र का जप करने की परंपरा है।

इस मंत्र की साधना करते समय या अनुष्ठान की अवधि में जपकर्ता द्वारा असावधानी या अज्ञान से कोई अपराध हो भी जाए तो गायत्री माता साधक के अपराध को क्षमा करती है। अत: इसकी साधना में हानि या संकट का कोई भय नहीं रहता है। विशेष बात यह है कि यह मंत्र साधक को अत्यधिक उत्साहित रखता है। सबसे अहम बात यह है कि गायत्री का साधक कभी निराश, उदास, हताश, दीन-हीन और कर्महीन नहीं होता है।

राजप्रासाद में रहते हुए या सरयू के तट पर राम नित्यकर्म करते हुए श्रद्धापूर्वक जप करते हैं। इस घटना को राम के व्यक्तित्व की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। राम स्वयं जन्मत: निश्चयी स्वभाव का है, पर गायत्री की उपासना से उसका निश्चयी स्वभाव और दृढ़ हो जाता है। राम के जीवन में प्रलोभन कम थोड़े ही आए होंगे, परंतु वह कभी अपने निश्चय से विचलित हुआ हो ऐसा कभी नहीं हुआ। राम की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसने अपने स्वत्व की हमेशा रक्षा की। दु:ख चाहे जितना बड़ा हो, राम ने अपने सुख को तिलांजलि देकर उसे स्वीकार किया है, वह किस बल के सहारे? क्या वह राजकुमार था इसलिए? या वह जन्मत: ही ममताहीन था इसलिए? बड़ा ही पितृभक्त था वह! इसलिए? नहीं, इनमें से एक भी कारण सही नहीं है।

स्वीकार किए गए व्रत या अपने निर्णय के लिए सारे दु:खों को गले लगाते और अपेक्षित आपत्तियों का धैर्य के साथ सामना करने की अदम्य सामर्थ्य युवा राम में कैसे आ सकी, यही मेरे सामने सबसे अहम सवाल है। किसी राजघराने के युवराज में या भावनाप्रधान पितृभक्त में, यहाँ तक कि नि:संग साधक में इतनी अपार सामर्थ्य या शक्ति नहीं होती है। इसे स्वीकारते हुए कि राम जन्मत: ही दृढ़निश्चयी स्वभाव का था, नित्य गायत्री साधना से वह स्वभाव दृढ़तर से दृढ़तम होता गया। जिससे राम में विलक्षण तेजस्विता और अद्‌भुत निर्णय शक्ति हमेशा बनी रही, उसके कार्यों से अभिव्यक्त होती रही, ऐसा कम-से-कम हमारा अनुमान है, निरीक्षण है। गायत्री साधना मेरा अनुभूत विषय है, इसलिए उसके संबंध में यह विधान करते हुए मुझे यत्किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं है।

आप प्रभु राम के संपूर्ण जीवन को देख सकते हैं, उसके हिस्से में सुख से ज्यादा दु:ख कितना अधिक था, आप समझ सकते हैं। इसलिए भवभूति ने भी राम के कारुण्य को 'पुटपाक प्रतीकाश' कहा है। रामायण सुखप्रद या सुखांत (कॉमेडी) काव्य है ही नहीं। हमेशा दु:खपूर्ण या दु:खांत (ट्रेजेडी) काव्य के रूप में रामायण जानी-पहचानी गई है। रामायण आदर्शों के उत्तुंग शिखर बार-बार आपकी दृष्टि को आकर्षित करती है। यह जितना सत्य है उससे भी अधिक सत्य, कटु सत्य यह है कि सामान्य हो असामान्य, हर मनुष्य आदर्शों के बोझ तले या उससे आवृत्त होने पर भी अपार कष्ट और दु:खों में लपेटा जाकर झुलसा हुआ दिखाई देगा। रामायण के महान्, ऊँचे आदर्श भी धूलि-धूसरित हो

जाएँ, कालिमा युक्त हो जाएँ, ऐसी एक-से-एक भीषण और हृदय को पिघला देने वाले दृश्यों ने रामायण के पन्ने-पन्ने, पंक्ति-पंक्ति और हर अक्षर को द्रवित कर दिया है, भिगो दिया है। रामायण के कथानक के दुःख एक अलग किस्म के हैं, उन्हें भोगनेवालों या उसके प्रत्यक्षदर्शियों की अनुभूति का भेदभाव से लेखा-जोखा नहीं कर सकेंगे। उन दुःखों की वेदना का अलग रूप है और उनसे हुई पीड़ा इतनी मर्मांतक है कि सारा संसार अपनी छाती पीटते हुए रो उठे, पत्थर-पहाड़ भी तरस खाएँ। वैसे रामायण के कथानक का दुःख जिन-जिन ने भोगा है या जिन्हें भोगना पड़ा है, वे नाम शेष भी नहीं रहते, पर वे व्यक्ति और उनका अपार, अनाकलनीय दुःख 'निश्चयी' राम से जुड़ा हुआ है। इसलिए राम के छोटे-मोटे परिवारजन और उनके दुःख समग्र या वैश्विक दृष्टि से मानवता के भूषण सिद्ध हुए हैं।

राम हम-आपकी तरह शरीरधारी ही था। उसके गुण उसके मन या शरीर के माध्यम से ही प्रकट हुए। सीता मिलने पर उसे परमानंद हुआ तो सीता के वियोग ने उसे झकझोर भी डाला। भरत के आग्रह को अस्वीकार कर उसने सिंहासन स्वीकार नहीं किया। सुमुहूर्त आने पर ससम्मान उसे स्वीकार भी किया। पूरी रामायण पढ़ते हुए राम के जीवन में आए सुख के क्षणों को तो गिना जा सकता है, किंतु दुःख के प्रसंग इतने हैं कि गिनते-गिनते आप गिनती भूल जाएँ। ऐसा होने पर भी 'रामायन' के सामान्य-से-सामान्य चरित्र भी ऊँची गरदन किए अमर कैसे हुए? रा-म इन दो विलक्षण अक्षरों का कालातीत अस्तित्व यही इस प्रश्न का निरपवाद उत्तर है।

राम की ऐसी क्या विशेषता थी? ऐसी कौन सी दवा या रसायन उसके पास था, जो वह स्वयं भी लेता रहा और दूसरों को भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराता रहा? विष्णु का अवतार होना रसायन या दवा नहीं है। अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अद्‌भुत दिव्य तेजस्विता से मंडित प्रबल आत्मशक्ति राम में थी। यही देवताओं को भी न मिले, ऐसा रसायन उसके पास था, जो किसी के आशीर्वाद या कृपा से उसे नहीं मिला, पर वह स्वयं कष्टों एवं साधना से प्राप्त किया हुआ उसका आत्मवलयांकित तेज था। राम की यह आत्मा की सामर्थ्य उसके द्वारा की गई गायत्री-साधना के फल का ही परिपाक था। इसे राम के भक्तों को याद रखना चाहिए।

राम के काल से ही भारत में रामभक्ति की परंपरा रूढ़ हुई थी। परवर्ती समय में राम की योग्यता के अनुरूप तुलसीदास, रामदास, एकनाथ जैसे महान् रामभक्तों का उदय हुआ। इस परंपरा के भक्त रामायण या इन संतों के रामचरितमानस या दासबोध जैसे भाषा ग्रंथों का पारायण करते हैं। राम नाम के जप का इस परंपरा में आज भी अधिक प्रचलन है। परंतु स्वयं राम ने जैसी गायत्री मंत्र की साधना की, वैसी साधना रामदास के अलावा कभी किसी ने की हो ऐसा कभी श्रुतिगोचर नहीं हुआ। रामचरित्र के पारायण या रामनाम

के जप की तरह रामभक्तों को गायत्री मंत्र की साधना से भी निश्चय ही आत्मशक्ति प्राप्त होगी। तेरह अक्षरों के 'श्रीराम जयराम जय-जय राम' मंत्र के जैसा ही गायत्री मंत्र फल देनेवाला है, यह मेरा दृढ़विश्वास है। नियमों, अनुशासन के कारण गायत्री-साधना कठिन है, राम-नाम आसान है। इसलिए कोई भी जो सुलभ या आसान है, उसे अपना लेता है। यह हर किसी की समझ में आने वाली बात है। परारामत्व या रामरामतत्त्व राम को गायत्री-साधना से ही प्राप्त हुआ, इसे रामभक्तों को अच्छी तरह से जानना जरूरी है। वही आपको रामचरित्र का साक्षात्कार रामत्व का दिव्य दर्शन कराएगा।

□

वंशरामावस

महर्षि विश्वामित्र से सभी प्रकार की अस्त्रविद्या प्राप्त करने के बाद राम ने ताडका, सुबाहु तथा अन्य अनेक राक्षसों का संहार किया। यज्ञसिद्धि हो गई। अनुष्ठान पूरा होने पर सिद्धाश्रम के ऋषि-मुनियों ने विश्वामित्र को सलाह दी—''राम-लक्ष्मण को साथ लेकर आप मिथिला नगरी जाइएगा, ताकि राजा जनक के पास रखे हुए शिवधनुष को राम (एक बार) देख सकें।'' इस परामर्श को मानकर विश्वामित्र मुनि राम-लक्ष्मण के साथ मिथिला जाने के लिए रवाना हुए। राम रास्ते चलते अपनी शंकाएँ महर्षि से पूछते जाते। उसकी शंका के समाधान के लिए विश्वामित्र गंगा के उद्भव, इक्ष्वाकु वंश के इतिहास आदि विषयों की विस्तृत जानकारी से राम को अवगत कराते रहे।

राम का नाम लेते ही तीन वंशों/कुलों के अभिधान दिखाई देने लगते हैं—सूर्यवंश, इक्ष्वाकुवंश और तीसरा रघुवंश। रामवंश के मूल पुरुष इक्ष्वाकु। रामचरित्र पढ़नेवालों या थोड़ा-बहुत जाननेवाले राम के वंश के बारे में विशेष नहीं जानते हैं। किसी भी वंश के पूर्व पुरुष चरित्रहीन, अन्यायी और अत्याचारी हों तो उनके वंश में राम जैसे महापुरुष को अवतार लेते हुए प्राय: नहीं देखा गया है। जहाँ भंग की खेती होती हो, वहाँ पर तुलसी तो पैदा नहीं होगी ? ऐसा हुआ या हो भी जाए, तो वह अपवाद है, नियम नहीं हो सकता। इसे राम का भी सौभाग्य समझना चाहिए कि उसके पूर्वजों में कोई भी पुरुष कर्तृत्वहीन या दुश्चरित्र नहीं निकला था। इसका अर्थ यह नहीं है कि राम का प्रत्येक पूर्वज महापुरुष था। अवसर मिलने पर शासक लोकप्रिय हो जाएँ या उसकी कीर्ति-पताका दिगंत में लहराए, यह जरूरी नहीं है। इसी तरह जिन्हें यश नहीं मिल सका, वे सारे ही शासक कर्तृत्वहीन या चरित्रहीन नहीं हो सकते थे। राम अपने वंश के इतिहास में झाँककर यदि देखते तो निश्चित रूप से उन्हें १०-१५ योग्य, कीर्तिमान्, चरित्रवान पूर्वज-शासकों के नाम अवश्य दिखाई देते। उन शासकों के नामों से आज भी सभी परिचित हैं, वे आज भी सर्वमान्य हैं।

राम के पूर्वजों में से कुछ नाम इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं—इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ, पृथु, मांधाता, सुधन्वा, सत्यव्रत (त्रिशंकु), हरिश्चंद्र, सगर, अमंजस, अंशुमान्, भगीरथ, नामाग, अंबरीष, दिलीप, रघु, अज, दशरथ आदि।

मनु के दस पुत्र हुए थे। इक्ष्वाकु उनमें ज्येष्ठ थे, पुराणों में इक्ष्वाकु के जन्म के संबंध में एक अलग ही कथा बनाई गई है। मनु एक बार छींके और उस छींक में से पुत्र उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका नाम इक्ष्वाकु रखा। ऐसी कथा का हरिवंश (१-१०), देवी भागवत (७-८) व ब्रह्मपुराण में उल्लेख मिलता है। मनु ने बाद में इक्ष्वाकु को राजवंश के निर्माण का आदेश दिया तथा जीवन में उसे क्या-क्या कार्य करने हैं, इसकी योजना भी बनाकर दी। वायुपुराण (२-२३) अलग तरह से उल्लेख करता है। वैवस्वत मनु ने मित्र और वरुण देवताओं के लिए यज्ञ किया। उसके बाद इक्ष्वाकु तथा अन्य पुत्रों का जन्म हुआ। फिर मनु ने पृथ्वी के दस भाग कर वसिष्ठ की आज्ञानुसार उन्हें इक्ष्वाकु को सौंप दिया। इक्ष्वाकु अयोध्या का प्रथम शासक हुआ। उसने कुलगुरु वशिष्ठ से अध्यात्म विधा प्राप्त कर परम पद को प्राप्त किया था।

इक्ष्वाकु के सौ पुत्र हुए। सबसे बड़ा था विकुक्षी, जो अपने पिता के बाद अयोध्या का शासक बना। इसी विकुक्षी से निमिवंश का उद्‌भव हुआ। विकुक्षी का एक भाई था दंडक। भागवत पुराण (९-६) तथा विष्णुपुराण (४-२) के अनुसार दंडकारण्य का इसी के नाम से नामकरण हुआ। दंडक का दसवाँ पुत्र दशाश्व माहिष्मती का शासक था। राजा इक्ष्वाकु ने अपना राज्य सौ पुत्रों में विभाजित किया था। पचास पुत्रों में उत्तरी भारत तथा शेष पचास को दक्षिण भारत। पर अयोध्या में दीर्घ समय तक इक्ष्वाकु ही शासन करता रहा। इसी इक्ष्वाकु के वंश में परवर्ती समय में अनेक महान् शासक, राजा-महाराजा, सम्राट् हुए। इसलिए प्रत्येक पुराण में प्राय: इक्ष्वाकु के वंश का उल्लेख मिलता है। इक्ष्वाकु से प्रारंभ हुए इस वंश में राम से पूर्व तक हुए शासकों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. इक्ष्वाकु, २. विकुक्षी, ३. ककुत्स्थ (पुरंजय या इंद्रवाह), ४. अनेता, ५. पृथु, ६. दृषदश्व, ७. आर्द्र, ८. युवनाश्व, ९. श्रावस्त, १०. वत्सक, ११. ब्रह्दाश्व, १२. धुंधुमार या कुवलाश्व, १३. दृढाश्व, १४. प्रमोद, १५. हर्यश्व, १६. निकुंभ, १७. संहताश्व, १८. कृशाश्व, १९. प्रसेनजित्, २०. युवनाश्व (द्वितीय), २१. मांधाता, २२. अंबरीष, २३. युवनाश्व (तृतीय), २४. पुरुकुत्स, २५. त्रसदस्यु, २६. संभूत, २७. अवरण्य, २८. त्रसदश्व, २९. हर्यश्व, ३०. वसुमना, (वसुमान, सुमन, सुमति या सुधन्वा, ३१. त्रिधन्वा, ३२. त्रय्यारुण, ३३. सत्यव्रत (त्रिशंकु), ३४. हरिश्चंद्र, ३५. रोहित या रोहिताश्व, ३६. हरित, ३७. चंचु, ३८. विजय, ३९. रुरुरक, ४०. वृक, ४१. बाहु, ४२. सगर, ४३. पंचजन या असमंजस, ४४. अंशुमन्, ४५. दिलीप,

४६. भगीरथ, ४७. श्रुत, ४८. नाभाग, ४९. अंबरीष (द्वितीय), ५०. सिंधुद्वीप, ५१. अयुतायु, ५२. ऋतुपर्व, ५३. सर्वकाम, ५४. सुदास, ५५. मित्रसह, ५६. सर्वकर्मा, ५७. अवरण्य (द्वितीय), ५८. निघ्न, ५९. अनमित्र, ६०. रघु, ६१. दुलिदुह, ६२. दिलीप, ६३. रघु द्वितीय (जो दीर्घबाहु था), ६४. अज, ६५. दशरथ, ६६. राम।

राम के पश्चात् तैंतीस पीढ़ियों के शासकों के नामों का उल्लेख मिलता है। परंतु वे सब राम के परवर्ती होने के कारण उनकी चर्चा को टालना श्रेयस्कर होगा। इसी इक्ष्वाकु वंश को सूर्यवंश भी कहते हैं। इतिहास-पुराणों में इस नाम से भी इक्ष्वाकु वंश का वर्णन किया गया है।

इक्ष्वाकु के सौ पुत्रों में से विकुक्षी, निमी और दंड विख्यात शासक हुए हैं। विकुक्षी ने अयोध्या के राज्य को संपन्न-समृद्ध किया। निमी ने स्वतंत्र राज्य-विदेह की स्थापना की। दंड ने भी दक्षिण भारत में अपना स्वतंत्र सत्ता-वलय बनाया। विकुक्षी के पुत्र पुरंजय को एक बार युद्ध में इंद्र ने वृषभ रूप धारण कर अपने सिर पर उठा लिया था, इसलिए पुरंजय ककुत्स्थ नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। उसके छठे उत्तराधिकारी श्रावस्त ने श्रावस्ती को बसाया, जो परवर्ती समय में उत्तर कोसल की राजधानी बनी। श्रावस्त का पौत्र कुवलाश्व युद्ध में धुंधु नामक राक्षस का संहार करने के कारण धुंधुमार कहलाया। उसके आठवें उत्तराधिकारी युवनाश्व ने अपनी पत्नी के लिए यज्ञ के उदक को पी लिया था, जिससे उसकी वाम-कुक्षी से एक पुत्र का जन्म हुआ। स्वयं इंद्र ने अमृत पिलाते उस पुत्र का लालन-पालन किया, इसलिए उसे मांधाता कहा जाता है।

मांधाता पराक्रमी सम्राट् हुआ। उसे भगवान् विष्णु का पाँचवाँ अवतार मानते हैं। मांधाता ने सौ बार अश्वमेध यज्ञ व एक बार राजसूय किया। मांधाता की आठवीं-नौवीं पीढ़ी में त्रग्यारुण, सत्यव्रत, त्रिशंकु और हरिश्चंद्र प्रसिद्ध राजा हुए। हरिश्चंद्र के छठे वंशज बाहु से सगर हुए। सगर के पौत्र अंशुमान और अंशुमान के पौत्र, महान् शिवभक्त भगीरथ हुए, जो महापराक्रमी सम्राट् थे। ये ही भगीरथ कपिल मुनि के शाप से दग्ध हुए अपने पूर्वजों को शापमुक्त करने के लिए कठिन तपस्या और परिश्रम कर गंगा मैया के प्रवाह को पृथ्वी पर लाए थे। भगीरथ से भागीरथी। भगीरथ की कथा मनुष्य अभिमान करें—जैसी है।

भगीरथ के पश्चात् अंबरीष, ऋतुपर्ण, सुहास, मित्रसह (कल्माषपाद) प्रसिद्ध शासक हुए। मित्रसह के बाद चौदह-पंद्रह पीढ़ियाँ गुजरने पर चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप हुए। देवासुर युद्ध में दिलीप ने इंद्र की सहायता की थी। दिलीप के पुत्र रघु ने समस्त पृथ्वी पर विजय कर विश्वजित यज्ञ किया। दिलीप की कीर्ति का विस्तार उनके पुत्र अज और पौत्र दशरथ ने किया।

राम के जैसे महापुरुष ने जिस वंश में जन्म लिया, उसके पूर्वज कितने कर्तृत्ववान्,

पराक्रमी और प्रजावत्सल थे, इसका सामान्य विवरण न जाननेवालों की जानकारी के लिए यहाँ पर दिया है। राम जैसे युग पुरुष का जन्म होने के लिए पहले ६५ पीढ़ियों की साधना हुई, यह ज्ञात कराने के लिए ही सूर्यवंश की वंशावली भी यहाँ देनी पड़ी है। इक्ष्वाकु वंश में केवल पुन्नामक नरक से मुक्ति के लिए या मरने पर कोई तिलांजलि देनेवाला हो, इसलिए पुत्रोत्पत्ति नहीं की गई है। प्राय: हर पीढ़ी में त्याग, पराक्रम, उदारता और सच्चरित्रता की गुणवत्ता बढ़ती ही गई। यदि ऐसा न हुआ होता तो इक्ष्वाकु, मांधात, हरिश्चंद्र जैसे कीर्तिमान, भगीरथ जैसे साधक-तपस्वी या दिलीप जैसे विश्वजित यज्ञ करनेवाले उत्तराधिकारियों से इक्ष्वाकु वंश सुशोभित नहीं होता। वे कोरे युद्ध निपुण या पराक्रमी ही नहीं थे, परपीड़ा के निवारण में तत्पर पुण्यात्मा थे। इन्हीं पुण्यशील शासकों के अर्जित पुण्यराशि का फलोदय राम के रूप में हुआ। वंश को सर्वोच्च ख्याति मिलने का अध्याय इसी समय लिखा गया।

महाभारत बीते लगभग ५,००० वर्ष हुए। शोधकर्ताओं की राय में रामायण का काल महाभारत से पूर्व ५०० वर्षों का है। वह समय ऐसा था कि मनुष्यों की आयु सीमित या परिमित नहीं थी। प्राय: लोग दीर्घायु थे। सौ साल की उम्र तो कलियुग में हो गई है। राम त्रेतायुग में हुए, उस समय 'शतायु भव' नहीं था, 'चिरंजीवी भव' था। आप यदि हर पीढ़ी २५-३० साल की मानें तब भी राम-पूर्व इक्ष्वाकु वंश की पीढ़ियाँ बीतते १६-१७ सौ साल तो लग ही गए थे। अर्थात् वैवस्वत मनु से दशरथ तक प्रत्येक पीढ़ी के साथ एक-एक विचार का गुणसूत्र विकसित होता गया, जिसकी चरम परिणति, पूर्व-संचित पुण्यराशि के साथ उदित होनेवाले रामरूपी सूर्य के जन्म में हुई। पुराणों की कथाओं के अनुसार अवतार लेने के लिए माध्यम रूप में विष्णु ने दशरथ का जो चुनाव किया, उसमें केवल दशरथ की गुणवत्ता या पुण्य फल कारण नहीं था, अपितु वैवस्वत मनु से दशरथ तक अर्जित सांस्कृतिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों का भी उसमें बहुत बड़ा हिस्सा है। मेरा तो यही मानना है।

कोई भी अवतार किसी परिवार में निसर्ग से विपरीत आकाश से तो टपक नहीं पड़ता। कुछ सत्पुरुषों के उदाहरणों को अपवाद मान सकते हैं, पर अधिकांश अवतार या जन्म दांपत्य के संयोग से ही हुए हैं। किसी महापुरुष की पूर्व पीढ़ियों या पूर्वजों के संबंध में यदि कोई प्रमाण या ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो तो उसका मतलब यह नहीं होता कि उसके पूर्वज पुण्यवान् नहीं थे। उत्कृष्ट भूमि और उत्कृष्ट बीजों का संयोग न हो और उसे उपयुक्त पर्जन्य की अनुकूलता, उपलब्धता न हो, तो अच्छे किस्म के धान की पैदावार कभी नहीं हो सकती। यही नियम मनुष्य की जन्म-प्रक्रिया पर भी लागू होता है।

उत्तम स्त्री-पुरुष सुसंस्कारित हों तो ही श्रेष्ठ संतान पैदा हो सकती है। बिना संकल्प, बिना संस्कार के होनेवाले स्त्री-पुरुष के संकल्प शून्य से चैतन्ययुक्त जीव जन्म

ले सकता है। वह इस संसार में जिएगा भी, पर अंत तक संकल और संस्कारहीन स्थिति में ही। यों तो पशु-पक्षी पैदा होते रहते हैं, मरते भी रहते हैं। अपने कुल या परिवार में कोई श्रेष्ठ कलाकार, कवि, लेखक, खिलाड़ी, संशोधक का जन्म होना चाहिए। ऐसा प्राय: किसी का संकल्प नहीं हुआ करता है। भव्यत्व-दिव्यत्व का शुभ संकल्प जब अनेक पीढ़ियाँ निरंतर करती रहती हैं तब उस संकल्प सिद्धि के लिए वह वंश वर्धमान होता रहता है। किसी कुल में जब कोई शुभ संकल्प होता ही नहीं है तो वे कुल निर्वंश होते देखे जा सकते हैं।

बहुत लोग पूजा करते हैं, मंदिरों के चक्कर लगाते हैं, तीर्थाटन करते हैं और भगवान् की प्रार्थना भी करते हैं, पर वह प्राय: क्षणिक भौतिक सुखों या संपत्ति-कीर्ति के लिए ही हुआ करती है। हमारे कुल में किसी महापुरुष या धर्मनिष्ठ व्यक्ति का जन्म हो, यह या ऐसी प्रार्थना वे कभी नहीं करते। आदमी चाहे पढ़ा-लिखा हो या निपट गँवार हो, दोनों की लगभग यही स्थिति देखी गई है।

रामचरित्र को समझने के लिए राम के व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को जानना जरूरी है, अन्यथा रामचरित्र समझा हो या समझ में नहीं आया हो, दोनों बराबर है। राम, कृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, शंकराचार्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, समर्थ रामदास, छत्रपति शिवाजी या मीराबाई, कबीर एक बार ही हुए। दूसरा कबीर या दूसरा शिवाजी पैदा नहीं हो सका। इसका क्या कारण है ? कई शताब्दियों के बीतने पर ही कोई महापुरुष जन्म लेता है। ऐसा क्यों ? जन्म और मृत्यु हम प्रतिदिन देखते ही हैं, पर मनुष्य में अवस्थित भगवान् के दर्शन तो दुर्लभ ही होते हैं। ऐसा क्यों ?

अपराध-भावना से मुक्त होकर हम गए-बीते नहीं हैं, यह विश्वास मन में रखते हुए कि यदि दिव्यत्व की सतत कामना तथा भव्यत्व का संकल्प मन में रखें तो दो कमरों के हमारे छोटे से घर में भी शंकराचार्य या शिवाजी जन्म ले सकते हैं। कम-से-कम मुझे तो इसमें कोई संदेह प्रतीत नहीं हो रहा है। शारीरिक व्यायाम की तरह एक के बाद एक रामायण-दासबोध का पारायण करते रहने की अपेक्षा हमारा शुभ संकल्प दृढ़ से यदि दृढ़तम होता जाए तो वह संपूर्ण मानवता के लिए कल्याणकारी होगा। राम-राम करनेवाले और कर्कश-स्वर में रामभक्ति में पर्यावरण को दूषित करनेवाले भक्तों की तादाद हिंदुस्तान में हजारों में बढ़ती जा रही है। लेकिन उससे भगवान् राम का अवतार फिर से होने में कोई मदद नहीं मिलेगी। रामायण या रामकथा का यह अपरिचित अज्ञात अर्थ हृदयंगम कर उस दिशा में कर्तव्यशील होने से ही कुछ लोक-कल्याण या लोक-मंगल होने की संभावनाएँ उत्पन्न हो सकेंगी।

□

अहल्या के द्वारा विश्वासघात

राम द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देते समय विश्वामित्र अहल्या और गौतम ऋषि के बारे में बड़े आदर-भाव से कहने लगे—हे पुरुष श्रेष्ठ राम! महात्मा गौतम ऋषि का यह आश्रम प्राचीन काल में स्वर्ग के किसी आश्रम की तरह दिव्य-भव्य शोभा से संपन्न था। देवगण भी इसे पूज्यभाव से देखते थे। हे महान् यशस्वी राजकुमार! इस आश्रम में गौतम मुनि ने अपनी पत्नी अहल्या के लिए कई वर्षों तक तपस्या की—

गौतमस्य नरश्रेष्ठ! पूर्वमासीन्महात्मनः।
आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः॥
स चात्र तप आतिष्ठ दहल्यासहितं पुरा।
वर्षपूगानि अनेकानि राजपुत्र! महायशः!

(सर्ग ४८/१५-१६)

विश्वामित्र गौतम ऋषि को महात्मा पदवी से संबोधित कर रहे हैं। उन्होंने अपने ही आश्रम में अहल्या के साथ अनगिनत वर्षों तक तपस्या की। तपस्या के वर्षों की संख्या अपरिमित थी, अनेक शतक या संख्यातीत। इसीलिए इस अवधि को 'वर्षपूगानि' कहा गया है। पूग का अर्थ है—समूह अर्थात् वर्षों के समूह! विश्वामित्र को भी ज्ञात नहीं था कितने वर्ष तपस्या हुई। अनगिनत, अज्ञात काल तक गौतम के साथ तपस्या करने पर भी इंद्र जैसे श्रेष्ठ पुरुष पर अहल्या आसक्त हो गई। इसे शायद विश्वामित्र विशेष रूप से बताना चाह रहे हैं।

आश्रम के पवित्र वातावरण में गौतम जैसे तपस्वी, महात्मा के सहवास में रहकर तपस्या करते हुए भी आखिर अहल्या अपने सतीत्व की रक्षा क्यों नहीं कर पाई ? उसके व्रताचरण की पवित्रता कैसे दूषित हुई ? उसकी अटूट निष्ठा आखिर क्यों टूटी ? स्वयं ब्रह्मा की संतान होने पर भी वह विचलित क्यों हुई ?

मेरा यह मानना है कि ब्रह्मा की मानस कन्या होने से अहल्या को मिला अनुपम सौंदर्य ही उसके पतित होने का मुख्य कारण है। इंद्र की लोलुपता और आसक्ति तथा कामांतना का शिकार होकर आश्रम में प्रवेश दूसरा कारण है। इंद्र के कपट को जानकर भी अहल्या का कामभावनाग्रस्त होकर उसका साथ देना तीसरा कारण है। सतीत्व के पतन में इंद्र की अपेक्षा वह स्वयं उत्तरदायी है। वैसे भी पद, प्रतिष्ठा, सत्ता और सौंदर्य के समक्ष कोई भी स्त्री, विशेषकर किसी के द्वारा समागम की याचना पर, स्वयं को नहीं रोक पाई है। कम-से-कम भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं।

आश्रम में इंद्र का आना कोई इत्तिफाक नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह गौतम मुनि के दर्शन कर आशीर्वाद लेने आया और अकस्मात् उसकी नजर अहल्या पर पड़ी हो। वह आया तो अहल्या को भोगने के लिए ही। उसका कपट-वेष कुछ काम नहीं आया। किंतु मजे की बात यह है कि अहल्या ने इंद्र को उसी क्षण पहचान तो लिया, पर वह अपनी स्वयं की पहचान ही भूल गई। स्वयं ब्रह्मा की संतान मैं हूँ तथा किसी महात्मा की धर्मपत्नी के रूप में व्रताचरण और तपस्या में लगी हूँ, इसका ध्यान अहल्या को नहीं रहा। कितना क्लेशकारक हुआ यह भूलना! इंद्र को देखते ही अहल्या का जितेंद्रियत्व पिघलने लगा। मुनिश्रेष्ठ गौतम के सान्निध्य और सहवास में रहते हुए अहल्या का पथभ्रष्ट हो जाना चिंतनीय है। इंद्र को रतिदान तो वह देती है। इतना ही नहीं, स्वयं को कृतार्थ और कृतकृत्य मान रही है। उसकी लज्जाहीनता, बेहया होने की यह चरम परिणति है। उसकी जितनी निंदा और निषेध करें, कम होगा।

गौतम-अहल्या वृत्तांत कथन करते हुए विश्वामित्र ने अहल्या का दुर्मेधा, दुर्बुद्धिवाली जैसे अपमानास्पद विशेषण से उल्लेख किया है। इस उल्लेख से त्रेतायुग में भी विवाहित स्त्री के पतन या दुराचरण पर जनमानस में होनेवाले संताप का अनुमान किया जा सकता है। जो इस दुःखद घटना की मूल विगत या ब्योरा नहीं जानते हैं, वे केवल इतना भर जानते हैं कि गौतम के शाप से इंद्र के द्वारा भ्रष्ट की गई अहल्या पाषाणशिला हुई, राम के पद स्पर्श से उसे पुनः शरीर प्राप्त होकर उसका उद्धार हुआ। पर ऐसी घटनाओं की वास्तविकता कुछ और ही होती है।

देवाधिदेव इंद्र और अहल्या दोनों ने स्वेच्छा से मिलकर यहाँ महात्मा गौतम ऋषि को धोखा दिया है। विश्वासघात का महापाप अहल्या ने किया है, क्योंकि इंद्र ने अकेली अबला नार से जोर-जबरदस्ती तो की नहीं, कोई बलात्कार नहीं किया, अहल्या की सहमति, बल्कि स्वयं की तीव्र रतिच्छा से ही समागम हुआ और उस समय अहल्या-इंद्र मन में यह खूब जानते थे कि वे गौतममुनि के साथ धोखा कर रहे हैं। उनका विश्वासघात कर रहे हैं। इस समागम को दोनों ही दुष्कृत्य मान रहे हैं, दोनों गौतम से बुरी तरह से भयभीत हैं। इच्छित सुख मिलने पर अहल्या का यह कहना कि हे देवश्रेष्ठ!

मैं कृतार्थ हो गई, अब आप शीघ्र निकल जाएँ तथा गौतम से मेरी और स्वयं की रक्षा करें। इन तथ्यों का पुख्ता सबूत है—

कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ! गच्छ शीघ्रमितः प्रभो!
आत्मानं मां च देवेश! सर्वथा रक्षगौतमात्।

एक तरफ इंद्र से प्राप्त रतिसुख से पुलकित होती तो दूसरी ओर गौतम मुनि के भय से मन-ही-मन घबराई अहल्या का द्विविध चित्र यहाँ गौतम के आश्रम में सजीव हो उठता है। अपना पाप गौतम से छिपाने के लिए व्याकुल हो उठी अहल्या अपनी रक्षा के लिए, इंद्र की रक्षा के लिए विनती करते हुए उसे तुरंत आश्रम छोड़ने के लिए कह रही है। व्यभिचार कर लिया, अब पति की नजर से बचने के लिए उसकी जोड़-तोड़ शुरू हो गई। यह प्रवास ही उसके लिए अधिक तकलीफ-दुःख देनेवाला सिद्ध हुआ। कहा है— जिनका विवेक भ्रष्ट हो जाए, उनके पतन के सैकड़ों रास्ते खुल जाते हैं।

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

मनुष्य एक बार किसी भी कारण से भ्रष्ट हो जाए, हजारों प्रकार से उसका पतन शुरू हो जाता है। इंद्र को देखने से, उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों से अहल्या का पहले विवेक दुर्बल होता गया और देवराज ने जैसे ही समागम की माँग रखी, वह पूरा ही भ्रष्ट हुआ। इसीलिए अपने पति, पातिव्रत्य, पिता और आश्रम की परंपरा के प्रति उसकी आस्था टूट गई। सारी प्रतिज्ञा भूलकर वह दुष्कर्म में प्रवृत्त हो सकी। बचा-खुचा उसका अधःपतन तब हुआ जब उसने आत्मरक्षा के लिए इंद्र से गुहार लगाई।

अपने हाथ से महान् पाप हुआ है, यह अहल्या समझ गई है, इसीलिए मन में पूरी तरह से घबराई है। गौतम को मालूम होने पर उनकी क्रोधाग्नि में जलकर राख हो जाने से बेहतर था कि ऋषि को इसकी भनक भी न पड़े। ऐसा विचार संभव है, उसे स्पर्श कर गया हो, इसीलिए तुरंत आश्रम से जाने के लिए इंद्र से वह आग्रह कर रही है। उसके आचरण की यह हीनता अंतहीन क्लेश देनेवाली है।

□

गौतम की शापवाणी

इंद्र को यह आभास हो ही गया था कि महर्षि गौतम के लौटने से पहले ही उसे वहाँ से निकलना चाहिए। आनन-फानन में वह निकलने लगा तो आश्रम के मुख्य द्वार पर गौतम मुनि के रूप में उसका दुर्भाग्य मुँहबाये खड़ा था। कुछ क्षण पहले ही 'सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि' अहल्या से कहते हुए वह कुटिया से निकला था, पर सामने गौतम मुनि को देखते ही उसके मुखमंडल का हास्य लोप हो गया। भय से सारा शरीर काँपने लगा, होंठ सूखने लगे।

वैसे देखें तो इंद्र देवाधिदेव देवराज है। सभी देवताओं का सम्मानीय नेता है। गौतम मुनि का रूप धारण करने की कला वह जानता है। वह चाहता तो आश्रम में गोपनीय स्वरूप भी ले सकता था, परंतु ऐसा कुछ करने के लिए उसे अवसर ही नहीं मिल पाया। गौतम के आश्रम में 'महनीय' कार्य कर बड़ी खुशी से आश्रम के द्वार से बाहर निकलते ही गौतम ऋषि से उसका पाला पड़ता है। इस तरह गौतम आ सकेंगे, ऐसी इंद्र को तो कतई अपेक्षा न थी। अहल्या के लिए गौतम का ऐसे प्रकट हो जाना बड़ा ही दुर्योग था। गौतम के ऐसे अचानक आ जाने से इंद्र और अहल्या दोनों ही फँस गए।

मानिए कि गौतम के लौटने से पहले ही यदि इंद्र निकल भी पड़ता तो क्या अहल्या अपने पाप को छिपा सकती थी? शायद अहल्या यही सोच रही थी, अन्यथा इंद्र को तत्काल निकल जाने के लिए वह बार-बार आग्रह क्यों करती? यह सोचना उसका भोलापन ही कहा जाएगा कि इंद्र यदि निकल जाता है तो उसके प्रिय पतिदेव इंद्र के साथ किए गए उसके दुष्कर्म को नहीं जान पाएँगे और यों उनकी शापवाणी से अपने साथ इंद्र भी मुक्त होगा। इसीलिए इंद्र से कहती है—हे सुरश्रेष्ठ! गौतम से स्वयं की और मेरी, हर तरह से रक्षा करना—

आत्मानं मां च देवेश! सर्वथा रक्ष गौतमात्।

इस प्रसंग में आए हुए विवरण का तात्पर्य इतना ही है कि अहल्या और इंद्र दोनों यह भली प्रकार जान रहे थे कि उन्होंने जो कुछ भी किया वह पाप है और उसके परिणाम उन्हें भोगने होंगे। इंद्र स्वयं इतना शक्तिशाली और पराक्रमी था कि यदि वह चाहता तो अहल्या का अपहरण कर बलात्कार भी कर सकता था, परंतु मूल में जो प्रश्न है, वह इंद्र के सामर्थ्य या अहल्या की क्षमता का नहीं है, प्रश्न है गौतम की सामर्थ्य का। गौतम मुनि की तपस्या और चरित्र के प्रभाव से इंद्र भयभीत था, अहल्या भी सहम गई थी गौतम के तप:पूत आचरण से। इंद्र-अहल्या को यही भय था कि उनके छल-छद्म को मुनिवर गौतम जान ही गए थे।

एक क्षण के लिए मान लीजिए कि इंद्र आश्रम में से निकल गया होता और बाद में गौतम ऋषि प्रवेश करते तो भी सहमी हुई अहल्या के चेहरे पर दिखाई देने वाले पापकर्म को तो वे समझ ही जाते। अहल्या के साथ दुष्कर्म करने पर इंद्र चाहे तुरंत आश्रम से बाहर निकलता या देरी से निकलता, बीती हुई घटना उससे प्रभावित नहीं होती। लाख कोशिश कीजिए, असत्य कभी सत्य नहीं बनता, न ही दुष्कर्म को सत्कर्म माना जाता।

प्रत्येक मनुष्य की दो अवस्थाएँ सनातन हैं—प्रकृति और विकृति। जब तक प्रकृति का सामान्य स्तर स्थिर रहता है या डगमगाता नहीं है, तब तक मनुष्य का जीवन और व्यवहार सामान्य रहते हैं। लेकिन जब भी प्रकृति के इस सामान्य स्तर में गिरावट आती है तो उसी प्रकृति में से विकृति जन्म लेती है, यों भी कह सकते हैं कि प्रकृति ही विकृति हो जाती है। हमें जन्म के साथ मिली प्रकृति जब उच्च या उदात्त स्तरीय हो जाती है तब उसी प्रकृति से संस्कृति का अवतरण होता है। हमें जितना भी जीवन मिले, उसका प्रवाह प्रकृति युक्त संस्कृति की ओर गतिमान होना चाहिए। निसर्ग से अथवा दैव से प्राप्त प्रकृति या स्वभाव में जो लोग कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते या यों कहिए, नहीं कर सकते, उनका अंतिम समय तक जीवन सामान्य ही रहता है। ऐसे व्यक्तियों की न कोई आलोचना होती, न कोई खास प्रशंसा। ऐसे लोगों में परिवर्तन की कोई क्षमता नहीं होती है, इसलिए संस्कृति की दृष्टि से उनका होना, न होना एक जैसा ही माना जाता है।

परंतु जिन व्यक्तियों से संस्कृति की सुरक्षा और संवर्द्धन की समाज को अपेक्षा रहती है, वे लोग विकृति के पाशो में फँसकर जब दुष्कर्म करते हैं और उसे छिपाने की भी कोशिश करते हैं तब केवल आलोचना के ही नहीं, घोर निंदा के योग्य होते हैं। रामायण में राम के जन्म से सैकड़ों वर्ष पहले अहल्या के द्वारा किए गए अपराध के लिए विश्वामित्र भी उसे 'दुर्मेधा' कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि विकृति केवल वर्तमान में ही नहीं, सुदूर भविष्य तक निंदनीय रहती है और जब भी किसी को संस्कृति के संवर्द्धन या सुरक्षा के लिए कुछ काम करने का अवसर मिलता है, तब उसे वैसी विकृतियों की निंदा करनी भी चाहिए।

दुर्योधन की असभ्यता, रावण का अहंकार और सीतापहरण, जरासंध का स्वार्थ, राक्षसों की क्रूरता या इंद्र-अहल्या जैसी विकृतियों पर तीव्र निषेध प्रकट करना भी संस्कृति संवर्द्धन का एक कर्तव्य है। यदि ऐसा न होता तो नरकासुर की हत्या के आनंद को हम आज भी दीपावली के अवसर पर दीप प्रज्वलित कर क्यूँ मनाते? उपनिषदों में सत्य की बड़ी महिमा गाई हुई है—'सत्यं वद धर्मं चर' यह श्रुति-घोष है। सत्य बोलना ही चाहिए, साथ-साथ असत्य का और असत्य बोलने वाले का निषेध या निंदा भी करनी चाहिए। यह निंदा भी सत्य बोलने जितनी महत्त्वपूर्ण है। पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा हमें क्यूँ करनी चाहिए? इसलिए कि इस व्रत का निर्वाह कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी करना पड़ता है। हर स्त्री चाहते हुए भी अनुसूया, लोपामुद्रा या गांधारी नहीं हो सकती। पत्नी या भार्या होना और उसके कर्तव्य निभाना बहुत कठिन नहीं है। पर पतिव्रता की भूमिका निभाना प्रत्येक स्त्री के लिए उतना आसान नहीं है। इसलिए आज तक पतिव्रता को स्मरण किया जाता है एवं पूजा की जाती है। ऐसे गौरवपूर्ण व्रत का उल्लंघन जब अहल्या ने किया तब वह संसार की बड़ी दुर्घटना हो जाती है। उसका निषेध या निंदा करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

चोरी-चकारी, डकैती, लोभ-मोह के साथ जन्म से ही मनुष्य मात्र को व्यभिचार का श्राप भी प्रकृति से ही मिला है। इन सब दुर्गुणों के प्रति आकर्षण रहे और निरंतर बढ़ता जाए, शायद इसलिए मनुष्य का जन्म ही काम-क्रोध-लोभ आदि विकारों से ही होता है। इसे हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि विश्व निर्माण करनेवाली आद्य शक्ति ने जान-बूझकर मनुष्य का जन्म इन्हीं प्रक्रियाओं के प्राणस्वरूप होना तय किया है। संसार का निर्माण हुए हजारों वर्ष बीते, परंतु कामाचार और उसका अतिरेक बने व्यभिचार के प्रति मनुष्य की विकृति कम नहीं हुई। संभवत: इसका उत्तर यह है कि मनुष्य स्वभावत: स्खलनशील है। ब्रह्मा के द्वारा निर्माण की गई विश्व की प्रथम मानवीय कन्या अहल्या को देवराज इंद्र ने भ्रष्ट किया। व्यभिचार की यह प्राचीन विकृति आज हर प्रकार के समाज में केवल दिखाई ही नहीं देती अपितु नित्य बढ़ती प्रतीत होती है। व्यभिचारियों को आप फाँसी पर लटका दें व आजीवन कारावास दें या अनंत यातनाएँ देकर उसका वध करें—उसका अन्य पुरुषों पर कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता, क्योंकि मनुष्य मन की विकृत-वासना कम नहीं हो पा रही है। इंद्र की विकृत-वासना को अहल्या ने प्रोत्साहित किया और वह भी पूरे मन से उसके साथ सहभागी रही। इसलिए वह आज भी निंदनीय है।

आश्रम से इंद्र को निकलते हुए देखकर त्रिकालदर्शी गौतम सब समझ गए। तत्काल उनके मुँह से सहज ही श्रापवाणी प्रकट हुई—'हे दुबुद्धि इंद्र! तुमने चूँकि मेरा वेष धारण कर यह निंदनीय कृत्य किया है, इसलिए तुम अभी से वृषण रहित हो जाओ।'

मुनि के यह कहते ही इंद्र की वृषण ग्रंथियाँ उसी क्षण जमीन पर गिर गईं। संतप्त गौतम ने अहल्या को भी श्राप दिया—'अन्य किसी भी प्रकार का आहार न करते हुए केवल वायुभक्षण करते हुए तुम्हें इसी स्थान पर भस्म (राख) में पड़े रहना होगा। हजारों वर्ष पीड़ा भोगनी होगी। तुम्हारे अपने रूप में कोई भी तुम्हें पहचान नहीं सकेगा। हे दुराचारिणी! दशरथनंदन राम जब इस आश्रम में आएँगे, तब उनके पदस्पर्श से तुम्हारा उद्धार होगा, उनका आदरातिथ्य कर तुम्हारी शुद्धि होगी, तत्पश्चात् तुम अपना मूलरूप धारण कर सानंद मेरे साथ रहोगी

इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेस्मिन्वसिष्यसि
यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि॥
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोह विवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुधरियिष्यसि॥ ३२॥'

□

३४

सतीत्व की महिमा व गौतम मुनि की क्षमाशीलता

अहल्या पतिव्रता तो थी, परंतु एक ही दुष्ट क्षण में वह देवराज इंद्र के मोहपाश में बँध गई। उसका कितना दुष्परिणाम हुआ, विश्वासघात की वह चरम परिणति थी। गौतम मुनि का अहल्या पर अटल विश्वास था और इसलिए यदा-कदा उसे अकेली छोड़कर वे किसी-न-किसी काम से आश्रम छोड़ जाते रहे। यह अटूट विश्वास अब टूट गया था। अग्नि को साक्षी मानकर अपने पति के साथ निष्ठापूर्वक एकात्म होकर रहने की अहल्या की प्रतिज्ञा भंग हो गई थी। यों तो पति सेवा करते हुए मन से भी किसी नारी द्वारा परपुरुष का चिंतन हो, वह भी बड़ा दोष था, परंतु इस प्रसंग में अहल्या केवल मन से ही मोहित नहीं हुई, इंद्र की चिकनी बातों में आ गई और अंततोगत्वा परपुरुष के साथ शरीर सुख प्राप्त कर कृतार्थ भी हुई। उसे कितनी भी सजा दी जाती तो वह कम थी। इस सीमा तक गौतम मुनि क्रोध से उफन गए थे और वे क्रोधित भी क्यूँ न होते।

वैवाहिक जीवन का अर्थ है पति और पत्नी का दांपत्य-जीवन। स्त्री और पुरुष जब पति-पत्नी बनते हैं तब उन्हें दंपती कहा जाता है। दंपती का अर्थ ही पति-पत्नी है। वैदिक परिभाषानुसार दम का अर्थ घर है और पति अर्थात् स्वामी अर्थात् पति-पत्नी अपने घर में समान अधिकार रखते हैं।

मनुष्य जीवन में विवाह के पश्चात् पति-पत्नी के संबंध अंत तक परस्पर विश्वास से मधुर बने रहते हैं। इस अटूट विश्वास से ही एक-दूसरे को समझने में विचारों और व्यवहार में एक प्रकार की प्रगल्भता-प्रौढ़ता विकसित होती है। फलते-फूलते आनंदमय दांपत्य जीवन का रहस्य इसी विश्वास की दृढ़ता में छिपा रहता है। परस्पर के दोषों या अवगुणों को ढकते या उन्हें दूर करते हुए परस्पर गुणों का संकीर्तन-बखान करते

हुए आनंदपूर्वक बीतनेवाला दांपत्य जीवन सुखी बनता है। लगता है यहाँ पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आया है। जैसे ही किसी एक का विश्वास टूट जाए वैसे ही सुखी गृहस्थ-जीवन में दरार आ जाती है। एक बार विश्वास अविश्वास में बदल जाए, संशय का पिशाच उस घर में ऊधम करने लगता है और देखते-ही-देखते पति-पत्नी के संबंधों में कटुता बढ़ने लगती है, गृहस्थी बरबाद हो जाती है। गौतम-अहल्या के सुखी जीवन के विनाश के लिए इंद्र से अहल्या अधिक जिम्मेदार है।

गौतम मुनि के साथ सुखी दांपत्य जीवन बिताते हुए अहल्या कम-से-कम सुबह-शाम रोटी तो आराम से खा लेती थी। अब तो उसे किसी भी तरह के आहार की मनाही हो गई। उसके नसीब में खाली वायु-भक्षण करना ही लिखा था। अपने आराम में पति के साथ सुख-चैन से रहनेवाली अहल्या को अब राख के ढेर में स्वयं को दफन कर उसी में रहना था। देवगण भी कामना करें ऐसे अनुपम लावण्य की वह स्वामिनी थी, लेकिन गौतम के शाप से अब कोई भी उसे देख तक नहीं सकता था। उसका सौंदर्य उसके लिए शाप बन गया। अहल्या लगभग दुनिया से ही उठ सी गई।

गौतम मुनि के शाप से अहल्या पाषाणशिला होकर आश्रम में वर्षों तक पड़ी रही तथा दाशरथी राम ने आश्रम में प्रवेश करने पर जब पदस्पर्श किया तब अहल्या पुन: अपने मूल रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार राम ने अहल्या का उद्धार किया, ऐसी जनमानस की प्राय: धारणा है। वाल्मीकि रामायण में कहीं पर भी 'तुम पत्थर या शिला हो जाओ' ऐसा गौतम की शापवाणी का उल्लेख नहीं है, परंतु समर्थ रामदासजी 'अहल्या शिला राघवेन मुक्ता' इस अर्थ की मराठी में पंक्ति श्लोकबद्ध करने से ही जनमानस में यह प्रचार हुआ कि अहल्या पाषाणशिला हो गई थी, पर वास्तविकता इससे भिन्न है।

अहल्या और गौतम की शापवाणी की इस कथा का उल्लेख प्राय: हर पुराण में अलग-अलग ढंग से किया गया है। गणेश पुराण में—आश्रम में जब इंद्र था तभी एक दिन गौतम ऋषि आ गए थे। तब घबराई अहल्या ने पति के पैरों में पड़कर अपना अपराध स्वीकार किया। इस प्रकार का उल्लेख मिलता है (१/३०)। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में घटना का विवरण ऐसे दिया गया है—गौतम ऋषि ने क्रोधित होकर दोनों को श्राप दिया। उन्होंने इंद्र से कहा—तुम शत्रु से पराजित होते रहो। तुमने जार कर्म (परस्त्री-समागम) की शुरुआत की है, इसलिए पृथ्वी पर होने वाले प्रत्येक पापकर्म का आधा पाप तुम्हारे ही सिर पर रहेगा (उत्तरकांड ३०/३४)। महाभारत के अनुशासन पर्व के ४१वें अध्याय में 'इंद्र के शरीर पर सौ छिद्र पड़ेंगे' यह उल्लेख है, जबकि लिंग-पुराण में 'इंद्र! तुम वृषणहीन हो जाओगे।' यह संदर्भ मिलता है।

इनमें से किसी भी पुराण में 'अहल्या के शिला' बन जाने का संकेत नहीं है।

तब फिर वह शिला कैसे बनी? पाषाणशिला अहल्या से कैसे जुड़ गई?

पाषणशिला का उल्लेख केवल स्कंदपुराण में मिलता है। अहल्या को संबोधित करते हुए पुराण में गौतम की शापवाणी को यों निबद्ध किया है—'तुम पाषाण शिला होकर पड़ी रहोगी। तुम्हारे शरीर पर केवल अस्थि और चर्म रहेगा। तुम्हारे इस रूप को देखकर महिलाएँ हमेशा पापकर्म से दहशत खाएँगी।' (स्कंद पुराण १/२/५२)।

गौतम-अहल्या-इंद्र इस त्रिकोणी घटना से बहुत प्राचीन काल से भारतीय जनमानस में कुछ धारणाएँ दृढ़ हो गई हैं। यथा—

१. इंद्र ने अहल्या के साथ व्यभिचार किया।
२. गौतम के शाप से इंद्र के शरीर में १,००० छिद्र पड़े, जिससे उसका 'सहस्राक्ष' नाम प्रसिद्ध हुआ।
३. श्राप के प्रभाव से अहल्या पाषाणशिला हो गई।
४. बाद में राम के पदस्पर्श से अहल्या को अपना मूल शरीर-स्वरूप प्राप्त हुआ तथा
५. राम ने अभिशप्त अहल्या का उद्धार किया।

मूल रामायण ज्ञात हो, पढ़ा हो या न पढ़ा हो, सुनी-सुनाई या कीर्तन-कथाओं में अहल्या की कथा कही जाती रही है, इसलिए सर्वसामान्य मूल कथा का वृत्तांत भले ही न जानता हो तो भी शाप से संबद्ध प्रसंग तो सब का सुना हुआ रहता है। वस्तुस्थिति क्या थी या मूल कथा का अंश कहाँ/किसने, कब और कैसे लिखा यह शोध करने में किसी की भी रुचि नहीं होती है, रुचि सिर्फ बतरस में होती है। बड़े-बड़े प्रवचनकर्ता या कीर्तनकार विद्वान् इस कथा को निरंतर अपने-अपने ढंग से मुलम्मा चढ़ाते अहल्या के व्यभिचार और गौतम के शाप का रसीला बखान करते आए हैं। जब समाज के विद्वानों का यह हाल है तब जनसामान्य के ज्ञान की स्थिति और भी बदतर हो जाती है।

'अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मंदोदरी' इस तरह प्रात:स्मरण में अमर हुई पतिव्रता स्त्रियों के नाम लेते हैं। इसलिए अहल्या को पतिव्रता मान रहे हैं। पर सीता या द्रौपदी के साथ स्मरण करने की उसकी योग्यता नहीं है। मनसा, वाचा, कर्मणा पति के प्रति आजीवन अव्यभिचारी निष्ठा रखनेवाली नारी ही पतिव्रता है। भारत में इस उच्चतम आदर्श का अनेक स्त्रियों ने निष्ठा के साथ पालन किया है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास-पुराणों में मिलते हैं। प्राचीन साहित्यांतर्गत रामायण में पतिव्रता का श्रेष्ठ आदर्श सीता ने प्रतिष्ठित किया है। उसका अपहरण करने के बाद रावण ने उसे कितने प्रलोभन दिखाए थे। उसे महारानी तक बनाने का आश्वासन दिया। जटा और वल्कल धारण करने वाले राम की अपेक्षा अपना वैभव, सत्ता और पराक्रम कितने ही

गुना अधिक है, यह भी सीता को उसने समझाया। सब कुछ सुन-समझकर भी सीता रावण के मोह से मुक्त रही, विचलित नहीं हुई। ऐसी स्थिति में अहल्या की तुलना सीता से कैसे हो सकती है?

सतीत्व की संकल्पना में एक और बात समाहित है। किसी पुरुष से विवाह हो जाने पर उसमें कोई त्रुटि या न्यूनता हो तब भी परपुरुष का विचार स्त्री के मन में भी नहीं आना चाहिए। सत्यवान् सर्वगुणसंपन्न था, किंतु उसकी उम्र कम थी। यह बात विवाह से पूर्व ही सावित्री जान गई थी। जानते-बूझते हुए भी उसने सत्यवान् का ही वरण किया। इस संदर्भ में सावित्री ने बड़े ही निश्चय से अपने पिता से कहा— 'मेरा पति दीर्घायु हो अथवा अल्पायु, सदाचरणशील हो या दुर्गुणी, एक बार मन से मैंने उनका वरण किया है, अब मैं किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं करूँगी।'

दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपिवा।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥

(महाभारत, वन पर्व अ २९४/२७)

द्रौपदी के सतीत्व की कथा इसी तरह का आदर्श प्रतिष्ठापित करनेवाली है। स्वयं को कोई अपराध न होते हुए भी उसने अपने पाँचों पतियों के साथ घोर अपमान, उपेक्षा और कष्ट सहन किए, पर अपना पतिव्रत अटल रखा। तारामती राजा हरिश्चंद्र की पत्नी थी। विश्वामित्र के ऋण से अपने पति को मुक्त करने के लिए स्वयं को बेचने में भी वह नहीं हिचकिचाई। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी के सतीव्रत की कथा भी इसी प्रकार की है। इतिहास के आधार पर ऐसी और भी कथाओं का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है। राजा नल की पत्नी दमयंती की कथा और भी भव्य और उदात्त है। इनमें से किसी एक का भी चरित्र दूषित नहीं हुआ था। इनकी कसौटी पर अहल्या कहीं पर भी नहीं टिकती है, इस सत्य को हमें स्वीकारना होगा।

कुछ सत्य वास्तविक व अत्यंत दाहक होते हैं तो कुछ संस्कृति व परंपरा के कारण स्वीकार किए जाते हैं। संस्कृति की परंपरा में मान्य सत्य को प्रमाणित करने के लिए इतिहास-पुराण के किसी साक्ष्य की जरूरत नहीं होती है। मूल ग्रंथों में उपलब्ध साक्ष्य कभी ऐसे सत्यों का विरोध करते दिखाई देते हैं।

चरित्र से भ्रष्ट हुई अहल्या को गौतम ने शाप देकर न नष्ट किया, न ही उसे भस्मीभूत किया। किसी दुष्ट क्षण में इंद्र को देखकर वह काममोहित हुई, इसलिए सजा या दंड के रूप में उसके जनसंपर्क की संभावना ही समाप्त की। पहले जो सबके लिए दर्शनीय थी, वह अब अदर्शनीय हो गई। किसी के द्वारा कोई प्रमाद हो जाए तो मृत्युदंड उसकी निर्णायक या अंतिम परिणति नहीं है। जहाँ मनुष्य है, वह प्रमाद

तो करेगा ही। ऐसे प्रमाद का दंड या प्रायश्चित्त द्वारा निरसन किया जा सकता है। गौतम अहल्या की इहलीला समाप्त नहीं करना चाहते थे। वे शुद्ध कर उसको स्वीकारना चाहते थे। वे हजारों वर्षों बाद शुद्ध हुई अहल्या चाहते थे। तपस्या से और प्रायश्चित्त से निर्दुष्ट हुई अहल्या धर्मपत्नी के रूप में उन्हें चाहिए थी। राम का अवतार होने से हजारों वर्ष पूर्व गौतम द्वारा ऐसे शुद्धीकरण को प्रायोजित करना उनकी तप:पूत दिव्य दृष्टि का ही परिणाम था। गौतम एक क्षण में पत्नी के भ्रष्टाचरण पर क्रोधित हो उठते हैं तो दूसरे ही क्षण उसे शुद्ध कर स्वीकार करने के लिए क्षमाशील-उदार हो जाते हैं। काममोहित अहल्या कहाँ और उसकी शुद्धि चाहने वाले क्षमाशील गौतम कहाँ! आचरण भ्रष्ट पत्नी को वे दंडित करते हैं, उसे शुद्ध होने का अवसर देते हैं और पुन: स्वीकार करने का आश्वासन भी देते हैं। इस कथा के अंतर्गत चित्रित अहल्या-गौतम का रिश्ता ही हिंदू संस्कृति का दांपत्य जीवन है।

□

पापमुक्ति का आश्वासन

अहल्या की कथा का इत्थंभूत वर्णन करने पर विश्वामित्र ने गौतम के आश्रम में जाकर अहल्या का उद्धार करने के लिए कहा। आगे-आगे विश्वामित्र और पीछे-पीछे राम-लक्ष्मण ने आश्रम में प्रवेश कर तपस्या के प्रभाव से चहुँओर व्याप्त आभावाली महाभाग्यवती अहल्या का अवलोकन किया, जो अब तक देव-देवताओं के लिए अदृश्य थी।

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेशह।
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्॥
लोकैरपि समागम्यदुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥

राम का दर्शन होने तक तो त्रिलोक में कोई भी उसे देखने में समर्थ नहीं था, पर (राम के दर्शन से) जैसे ही वह श्रापमुक्त हुई, हर कोई उसे देख सकता था।

त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम्।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता॥

दर्शन होते ही राम-लक्ष्मण ने आनंदित होकर उसका चरणस्पर्श किया, तब गौतम की वाणी का स्मरण करते हुए अहल्या ने भी (चरण) स्पर्श करते हुए उन दोनों का अभिवादन किया। धीरे-धीरे अंतःकरण स्वस्थ (स्थिरचित्त) होने पर अर्घ्य-पाद्य समर्पित कर यथाविधि उनका सत्कार (पूजा) किया, तब काकुत्स्थ राम ने भी उसे (सहर्ष) स्वीकार किया।

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हितौ॥

पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं चकार सुसमाहिता।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा॥

इस वर्णन से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि अहल्या शाप से मुक्त होने तक अदृष्ट-अदर्शनीय ही रही। आश्रम में राम के आने पर उसके दर्शन से ही अहल्या को पूर्व का शरीर और सुंदरता प्राप्त हुई। शाप की अवधि निश्चय ही प्रदीर्घ थी, पर अमर्यादित नहीं थी। राम-दर्शन तक ही शाप का प्रभाव था। दर्शन होते ही अहल्या अपने पूर्व स्त्री रूप में प्रकट हुई। उसे देखते ही प्रसन्न हुए राम-लक्ष्मण ने अहल्या के पैर पकड़ लिये। अहल्या ने भी राम को प्रणाम किया। चंद्रमा कितना तेजस्वी होता है, पर बादल या कोहरे में छिपने पर उसकी वह आभा दिखाई नहीं देती। वही स्थिति रामदर्शन से पूर्व अहल्या की हो गई थी; पर जप-तप से शुद्ध और तेजस्वी होने पर भी उसकी छवि कोहरे में छिपे चंद्र की तरह थी। दृश्यमान् जगत् में भी अदृश्य राम के दर्शन हुए, पाद्य-अर्घ्य से, पुष्पों से अहल्या ने उनकी पूजा की। अब शाप से मुक्त अहल्या पूर्ववत् दिखाई देने लगी। पावन हो गई, पतित पावन मिल जाने पर पतित से पावन बन गई। आश्रम में यह घटना घट रही थी, इतने में गौतम वहाँ पहुँचे, उन्होंने भी राम का अभिवादन कर अहल्या को स्वीकार किया। अहल्या-गौतम धर्माचरण करते हुए पहले की तरह सुख-चैन से रहने लगे।

अपने हाथों हुए प्रमाद की गंभीरता जान मौन रखते हुए अहल्या ने बिना कुछ कहे शाप को स्वीकार किया। इंद्र के साथ समागम से उसका मन, शरीर, बुद्धि, इंद्रिय सब अपवित्र हुआ था, उसे 'किल्मिष' कहते हैं। व्यभिचार जैसा नीच कर्म किया हो तो पाप से मुक्ति के लिए वैसी ही कठोर तपस्या करनी पड़ती है। पाप से मुक्त करने के लिए गौतम ने पहले प्रदीर्घ काल तक अहल्या से घोर तप कराया और यों पवित्र होने पर प्रभु रामचंद्र के हाथों उसका उद्धार किए जाने की व्यवस्था की।

एक कृतघ्नता को छोड़िए तो बाकी सब प्रकार के पापों से मुक्ति के लिए धर्मशास्त्र में यज्ञ, तप, दान आदि उपाय बताए गए हैं; पर कृतघ्न के लिए न कोई प्रायश्चित् है, न क्षमा है और न ही तपाचरण जैसा कोई माध्यम। उसके लिए एक ही सजा है मृत्युदंड। बाकी प्रमादों या अपराधों के लिए उनके पापभार से मुक्त होने के लिए तपाचरण का उपाय किया जा सकता है।

पाप कितना भी बड़ा हो और वह करने वाला कितना ही महान् क्यों न हो, यदि वह चाहे तो उस पाप से छुटकारा मिल सकता है। यह हमारी भारतीय संस्कृति की बहुत बड़ी विशेषता है। भगवान् ने जिन-जिन का उद्धार किया, वे सारे तो पुण्यात्मा नहीं थे। पापात्मा व्यक्तियों का भी उद्धार भगवान् ने किया ही है और करेगा भी, पर शर्त यह है कि उसे पश्चात्ताप होना चाहिए। अगर पश्चात्ताप की आग में वह धधक रहा हो, तो पाप कितना और कैसा भी क्यों न हो, परमात्मा के चिंतन में लीन रह तपस्या करते हुए उसका

चित्त शुद्ध होता है और ईश्वर उसे सद्गति प्रदान करता है। भक्ति के सारे मार्ग यही बात बताते हैं। यदि गलती या अपराध हो जाता है, पाप हो जाता है तो पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से दुष्कर्म में लीन रहनेवालों को भी पापमुक्ति का आश्वासन अहल्या की कथा देती रहेगी।

वैसे 'पाप' शब्द की व्याख्या या परिभाषा करना आसान नहीं है। पालक, अहंस्, अघ, दुरित सब पापवाची हैं और भी होंगे। न्यायशास्त्र ने पातक की व्याख्या दी है—

पातित्यजनक दुरदृष्टयोजक विशेषः।

अर्थात् पातित्य उत्पन्न करनेवाला तथा अनुचित अदृष्ट का प्रयोजक ऐसी विशेष क्रिया पातक है। पाप हमें पतित लोगों की नजरों से गिरा हुआ बनाता है। एक बार पतित हुआ कि प्रतिष्ठा उसे अलविदा कहती है। कदाचित् एक बार भी पापवासना का स्पर्श हो जाए तो व्यक्ति अनावश्यक होने पर भी पापकर्म में प्रवृत्त होने में अपना पुरुषार्थ मानने लगता है। पाप का विज्ञापन हो या औरों को वह मालूम पड़ जाए यह जरूरी नहीं है या उसके कपाट खुलने से वह पाप माना जाए, यह भी जरूरी नहीं। पाप प्रथमतः व्यक्तिगत स्तर पर ही होता है, इसलिए उसकी वासना या इच्छा न होने देना ही पुरुषार्थ का लक्षण है।

स्वयं भले ही व्यभिचार न करें, पर व्यभिचार में सहायक होना या व्यभिचारी से मित्रभाव रखना भी पाप ही है। पापी व्यक्ति का सहवास, उससे संभाषण, मित्रता अथवा उसकी चीजों का इस्तेमाल भी आप में पाप का संक्रमण कर सकता है। चोरी, गुरु-पत्नी या अन्य विवाहिता-अविवाहिता से बलात् या स्वैच्छिक रति-प्रसंग, ब्रह्महत्या, गर्भपात या हत्या, सुरापान, एक बार हुए पाप की आवृत्ति, असत्य भाषण तथा व्यवहार को महापातक या महापाप कहा गया है। कायिक, मानसिक और वाचिक पाप दस प्रकार के हैं। चोरी, परस्त्रीगमन और हिंसा कायिक पाप हैं। कठोरता, दुष्टता, झूठ और असंबद्ध प्रलाप वाचिक पाप हैं। दूसरे की संपत्ति की अभिलाषा, अनिष्ट चिंतन और असत्य का बात-बात में अभिनिवेश मानसिक पाप हैं।

जिंदगी भर जो पापकर्म करते ही रहते हैं, उन्हें पश्चात्ताप कैसा? पाप के पश्चात् भी पाप! असावधानी या कुसंगतिवश हुए पापों से तप-व्रत और दान-पुण्य द्वारा मुक्ति पाई जा सकती है। तपस्या या दान में असमर्थ हो तो भगवान् के नाम स्मरण से भी पाप का निवारण संभव है। अहल्या की कथा हमें यही आश्वासन देती है। भूल-भ्रम से पाप हो जाए तो निराश न होइए। पश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध होते-होते मनुष्य का मन शुद्ध होने लगता है। अहल्या ने हजारों वर्ष तपस्या की। क्या उसका उद्धार होना तर्कसंगत नहीं है?

□

शतानंद के धन्योद्गार

राम के द्वारा अहल्या का उद्धार किए जाने से धन्य-धन्य हुए गौतम-पुत्र शतानंद ने अपनी धन्यता-कृतार्थता को प्रकट किया। अपनी माँ अहल्या और पिता गौतम का पुनर्मिलन हुआ। यह वृत्तांत विश्वामित्र से समझने पर राम के लिए शतानंद के मन में कृतज्ञता, धन्यता के भाव जाग उठे। राम व विश्वामित्र की परस्पर भेंट होने की घटना शतानंद की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण थीं। शतानंद ने विश्वामित्र की प्रशंसा की और राम को उसके महद्‌भाग्य के विषय में कहने लगे—

हे पुरुषश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। हे रघुवंशज राम! कभी पराजित न होने वाले, महर्षि विश्वामित्रजी के साथ आपको यहाँ पधारने से सही अर्थों में हमारा भाग्योदय हुआ है। इन महर्षिजी के कार्य अचिंतनीय है और तपस्या के प्रभाव से इनका तेज अपरिमेय असीम हुआ है। मैं यह मान रहा हूँ, संसार की पराकाष्ठा की सीमा तक ये हित/कल्याण करनेवाले हैं। हे राम! दीर्घकाल तक तपस्या किए हुए महर्षि विश्वामित्र स्वयं रक्षा करनेवाले हैं। अतः इस संसार में अन्य कोई भी आपके जैसा धन्य नहीं है। आप धन्यतम व्यक्तियों में अग्रणी हैं।

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ! दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षि मपराजितम्॥
अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरमितप्रभः।
विश्वामित्रो महातेजा वेदिम एनं परमां गतिम्॥
नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो मुनि कश्चन।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः॥

(बालकांड, सर्ग ५१/१३-१५)

माता के उद्धार से अत्यंत प्रसन्न हुआ शतानंद राम का स्वागत कर रहा है। स्वागत की इस अभिव्यक्ति में राम का विश्वामित्र का अनुयायी बनकर आना उसके लिए बहुत

बड़ा सौभाग्य है। खिलती हुई युवावस्था वाले राम में राख बनी अहल्या का उद्धार करने की अलौकिक सामर्थ्य होना शतानंद के लिए गर्व की बात है, परंतु राम और विश्वामित्र की भेंट होना इसे वह उससे भी अधिक महद् सौभाग्य मान रहा है। राम को योग्य मार्गदर्शक गुरु मिलना शतानंद के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। वाल्मीकि के द्वारा संकेत किए जाने के बावजूद रामायण के पातक-शिला बनी अहल्या का राम के द्वारा उद्धार होने को रटते-कहते रह गए। पर मातृ-पितृभक्त, निष्ठावान् शतानंद के मन को वे समझ ही नहीं पा रहे हैं। यही अपरिचित रामायण है, इसे ही प्रस्तुत करने के लिए रस 'अपरिचित रामायण' से उलझाए गए मुद्दों का हम खुलासा करना चाह रहे हैं।

ताडका-वध, मारीच की पराजय, खर और दूषण के साथ हजारों राक्षसों का वध तथा अहल्या के उद्धार से पतित पावन हुई रामकथा राजा जनक के सम्मुख ही शतानंद विश्वामित्र के मुख से सुन चुके थे। उससे जन्मत: ही राम को प्राप्त अलौकिकता शतानंद स्वीकार कर ही चुके थे। राम की गुणगाथा बड़ी श्रद्धा के साथ शतानंद गाता है, लेकिन इतने पर भी उन्हें मन-ही-मन संतुष्टि नहीं हो पा रही है। वह भी अपने पिता गौतम की तरह तपस्वी और तेजस्वी है। तपस्या की अनुभूति से उसकी बुद्धि भी प्रगल्भ हुई है। वह पहले राम की प्रशंसा करता है, फिर उसके सौभाग्य को सराहने लगता है। यह सराहना करते हुए वह महर्षि विश्वामित्र की अपरिमित सामर्थ्य और उनकी घोर तपस्या की महिमा से राम को इस प्रकार पुरजोर शब्दों में अवगत कराता है कि उसे स्वीकार करने में राम के मन में कोई संशय न रह जाए।

जीवन में किस मोड़ पर किस प्रकार के अनुशासन की आदत डालने के लिए कौन गुरु मिलते हैं, इसी पर किसी व्यक्ति का भाग्य लोकोत्तर या श्रेष्ठ होना है, यह निर्भर रहा करता है। कुछ व्यक्ति जन्मत: ही असामान्य, अलौकिक होते हैं, फिर भी लोक में लौकिक शरीर के माध्यम से ही उन्हें जन्म लेना पड़ता है, इसलिए उनका मार्गदर्शन, विधासाधन, अनुशासन किसी लौकिक देहधारी गुरु पर ही अवलंबित होता है। मानवीय विकास की नियत प्रक्रिया है। मानिए किसी व्यक्ति की ग्रहण-क्षमता या विद्यार्जन की क्षमता सामान्य या सामान्य से कम हो और भाग्य से उसे अलौकिक गुणवत्ता से युक्त गुरु मिल भी जाएँ तो उसका कल्याण होना न होना संदेहास्पद रहता है। उससे कोई चामत्कारिक या अलौकिक कार्यों की अपेक्षा करना व्यर्थ है। समान योग्यता के गुरु-शिष्य का संयोग सुवर्ण संयोग है, पर वह सहज नहीं होता, मुश्किल से ही हो पाता है। पर जब वह संयोग बनता है तो वह इतिहास बनाता है।

रामजन्म की पार्श्वभूमि अलौकिक, असामान्य थी, अग्निदेवता की कृपा से उसका जन्म हुआ वह भी अलौकिक घटना थी, पर उससे भी अधिक अलौकिक घटना है—अयोध्या में स्वयं चलकर विश्वामित्र का आना और यज्ञ की रक्षा के निमित्त

दशरथ से राम उन्हें सौंप देने की माँग करना। पुत्र-मोह में फँसे दशरथ इस माँग की लोकोत्तरता को नहीं समझ पाए, परंतु कुलगुरु वसिष्ठ उसकी अलौकिकता को तुरंत पहचान गए थे। राम के भाग्य को गति देनेवाली इस घटना को भी अलौकिक मानना चाहिए। कुलगुरु वसिष्ठ जिस तथ्य को बहुत पहले समझ गए थे, वह तथ्य अब शतानंद के ध्यान में आया। वसिष्ठ भविष्यवक्ता ही नहीं, कालद्रष्टा थे, विश्वामित्र क्या हैं, वे बखूबी जानते थे। विश्वामित्र की अद्‌भुत, अपरिमित सामर्थ्य का अचूक अंदाज उन्हें था। राम की जन्म कुंडली में और स्वयं उसकी शारीरिक तथा मानसिक विलक्षण क्षमता केवल विश्वामित्र में है, यह उन्होंने परख लिया था। उन्हीं के आदेश से राम को भेजने के लिए दशरथ राजी हुए। इस पार्श्वभूमि पर 'विश्वामित्र-राम-संयोग' का महत्त्व रेखांकित हो जाता है, यदि यह संयोग न हो पाता तो कैसा इतिहास होता, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

गौतम पुत्र शतानंद ने राम की प्रशंसा करते समय विश्वामित्र को जिन विशेषणों से सम्मानित किया है, उनसे महर्षि का महत्त्व ही अपितु रामायण के चरित्र-नायक राम के निर्माण में उनकी कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, यह जानने में हमें मदद मिलेगी। उनकी चर्चा यहाँ पर करना समीचीन प्रतीत होता है।

अपराजित

विश्वामित्र अपनी प्रदीर्घ तपश्चर्या के लिए प्रसिद्ध थे। शीघ्र क्रोध तो वे थे ही। काम, क्रोध, मोह, मद आदि छह शत्रु उनके नियंत्रण में नहीं थे। उन्होंने प्रारंभ में जो तपस्या की उससे उनकी ईर्ष्या कम नहीं हो सकी। तपस्वी होते हुए कभी-कभी विकार अपने चरम पर पहुँच जाते थे। इसलिए तत्कालीन ऋषि-मुनियों के समुदाय में उनकी आशा के अनुरूप उन्हें सम्मान नहीं मिल पाता। इस स्थिति से उबरने के लिए उन्होंने बड़ी जिद के साथ, इतनी घोर और अद्‌भुत साधना की कि अपने विकारों को जीतकर षड्‌रिपुओं का दमन कर अपने वश में कर लिया। ऐसी अद्‌भुत तपस्या से विचलित कर पराजित करने के लिए इंद्र ने स्वर्ग की अप्सरा रंभा को भेजा। रंभा का स्वर्णिम सौंदर्य प्रभावहीन सिद्ध हुआ। रंभा पराजित हुई, अपराजित रहे विश्वामित्र। मूलत: रजोगुणी क्षत्रिय, युद्ध और संहारप्रिय, द्वेष-ईर्ष्या का मित्र और शत्रु-वृत्ति विश्वामित्र अब वैर-भाव से हीन, निर्मल, अजातशत्रु, परंतु अपराजित विश्वमित्र हुआ! संसार के समस्त प्राणियों के लिए मित्रभाव रखनेवाला वह वैश्विक विश्वामित्र हुआ। विश्वरूप से तदाकार, तदात्म हुआ विश्वामित्र, जवानी की दहलीज पर कदम रखते-रखते ही राम को मार्गदर्शक के रूप में प्राप्त हुआ। शतानंद इसे राम का बहुत बड़ा सौभाग्य मानें तो इसमें क्या आश्चर्य? राम के व्यक्तित्व निर्माण में अहं भूमिका निभानेवाले विश्वामित्र की ओर रामभक्तों का

उपेक्षाभाव रहा, यह खेदजनक आश्चर्य ही कहा जाएगा—इसे अपरिचित रामायण या रामकथा की अनकही कहानी जाएगी।

अचिंत्यकर्मा

महर्षि विश्वामित्र के कार्य अन्य व्यक्तियों के लिए अचिंत्य-अचिंतनीय या अकथनीय थे। तपस्या से इस प्रकार की सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुई थीं कि असंभव को संभव बना दें, कल्पनातीत को प्रत्यक्ष बना दें। विश्वामित्र के यह सब बाएँ हाथ का खेल था।

तपसा अमितप्रभ

तप-तपस्या जिनकी प्रभा या तेज अमित या अपरिमित हुआ है, ऐसे थे विश्वामित्र। तप या तपस्या का अर्थ है स्वयं को तपाना, तपाकर स्वयं को शुद्ध करना, नियमों का पालन करना, संयम, एकांतवास, आहार-विहार, आचार-विचार पर नियंत्रण करना, मोह के निमंत्रण को दुत्कारना, उदात्त उद्‌देश्यों के लिए तथा ईश्वरेच्छा मानकर तपस्या करना। ऐसी तपस्या तब की जाती है, जब शक्ति का अनावश्यक व्यय नहीं होता है। अर्थात् ऐसा परिवर्तन कोई तुरत-फुरत नहीं होता। उसके लिए कई वर्षों तक एक स्थान पर, स्थिर वृत्ति से बैठे-बैठे उत्कट श्रद्धा से जब तपस्या होती है, तब साधक में शक्ति का संचय होने लगता है। कायिक, वाचिक और मानसिक मलिनता कम होने लगती है। तापकारक पापों का स्फुरण और वाणी का निरर्थक विलाप कम होने लगता है तथा साधक सभी अर्थों में निर्मल, पारदर्शी और निरामय बन जाता है, तब वह तेजस्वी दिखाई देने लगता है। उसकी आँखें, अंग-उपांग कांतिमान दिखाई देते हैं, उसका अस्तित्व दाहक प्रतीत होता है। इन सबसे साधक सिद्ध बनने लगता है, उसमें आकर्षण शक्ति बढ़ती है। सामान्य व्यक्तियों को ही नहीं, समस्त चराचर जगत् को आकर्षित करने की विलक्षण शक्ति का उदय होता है। विश्वामित्र की तपस्या का तो कोई अंत ही नहीं था, इसलिए उनका तेज भी असीमित, अपरिमित था। वह तेज अवर्णनीय, शब्दातीत होता है, इसीलिए शतानंद ने उन्हें अपरिमित तेजस्वी कहा है।

परमांगतिम्

यहाँ पर गति शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। हितकर्ता, रक्षक, आधार, आश्रय आदि। इस विशेषण से शतानंद राम को यह सूचित करना चाहता है कि वह जिन विश्वामित्र का अनुयायी बनकर मिथिला आए हैं, वे विश्वामित्र संसार के सर्वश्रेष्ठ कल्याण करनेवाले, हितकर्ता, आश्रयदाता हैं। ऐसे विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने का

सुअवसर मिलना राम का बहुत बड़ा सौभाग्य था। अहल्या, गौतम और शतानंद का तो था ही। विश्वामित्र की भूमिका की व्यापकता का बखान अधिक-से-अधिक करने का मोह शतानंद सँवरण नहीं कर पाते, इसलिए राम से कहता है—विश्वामित्र यदि चाहें तो सारे संसार का मंगल-कल्याण कर सकते हैं। इसे आप भी ठीक से समझ लें।

ऐसे अद्‌भुत सामर्थ्यवाले व समस्त संसार का कल्याण करने में सक्षम विश्वामित्र का सहवास और मार्गदर्शन राम को मिलने से प्रसन्न, प्रभावित शतानंद अंतर्मन से कह उठता है—हे राम! इस पृथ्वी पर तुमसे अधिक धन्य कोई नहीं है। तुम धन्य-धन्य हो।

शतानंद स्वयं महातेजस्वी था। राम को जन्मतः प्राप्त अद्‌भुत सामर्थ्य उचित समय पर लोगों के सामने लाने में मुख्य कारण विश्वामित्र की तपःपूत दृष्टि है, इसे उपयुक्त समय पर कम-से-कम शब्दों में अभिव्यक्त कर शतानंद ने विश्वामित्र के प्रति अपनी कृतज्ञता ही ज्ञापित की है।

राम स्वयं ही विश्वामित्र के सम्मुख अत्यंत विनम्र है, फिर भी शतानंद के द्वारा किया गया विश्वामित्र का यह माहात्म्य विवरण रामायण के अध्येताओं व श्रोताओं को सूचित करता है कि रामभक्ति से पूर्व महर्षि विश्वामित्र प्रथमतः वंदनीय हैं। कम-से-कम रामकृपा प्राप्त करने के लिए विश्वामित्र-वंदना की आवश्यकता को तो हमें समझ ही लेना चाहिए।

□

मनगढ़ंत कहानियाँ

राजा जनक के कुलगुरु शतानंद ने परम समर्थ महर्षि विश्वामित्र से राम की भेंट होने और उनके साथ सहवास करने का राम को परम सौभाग्य कैसे मिला। इस संबंध में अपने धन्य वचन कहें। उसके बाद राजर्षि विश्वामित्र कठोर तपस्या से महर्षि कैसे बने, उनका महर्षि वसिष्ठ के साथ संघर्ष क्यों और कैसे हुआ, सात्त्विक वशिष्ठ के सम्मुख तामसी, स्पर्धा भाव रखनेवाले विश्वामित्र का कैसे तेजोभंग होकर वे पराजित हुए और इस घटना से अंतर्मुख बने विश्वामित्र ऋषि कैसे बने आदि वृत्तांत शतानंद ने विस्तार से राम को सुनाया। विश्वामित्र की वह अद्‌भुत कथा सुनकर जनक भी कृतार्थ हुए। यह कथा श्रवण करते-करते सूर्यास्त समीप आने लगा, इसलिए विश्वामित्र की आज्ञा लेकर राजा जनक अपने महल में चले गए।

दूसरे दिन प्रातः स्नान संध्या से निवृत्त हो राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र को बुलवा लिया। बड़े आदर सद्‌भाव से उनकी पूजा कर राजा जनक विनम्र भाव से विश्वामित्र से कहने लगे—

हे भगवन्! आपका स्वागत है। हे पापरहित! आपका कौन सा कार्य मैं संपन्न करूँ, आप आज्ञा दीजिए। मैं आपका आज्ञापालक हूँ—

> भगवन्! स्वागतं तेऽस्तु, किं करोमि तवानघ!
> भवान् आज्ञापयतु मां, आज्ञाप्यो भवता ह्यतम्॥

जनक के द्वारा किया गया यह निवेदन सुनकर विश्वामित्र ने कहा कि ये जगद्‌विख्यात क्षत्रिय राजा दशरथ के पुत्र आपके पास रखे हुए श्रेष्ठ धनुष को देखना चाहते हैं। इसलिए आप वह धनुष इन्हें दिखा दें। उसके दर्शन से ये राजकुमार कृतकृत्य होंगे तथा बाद में लौट जाएँगे। आपका कल्याण हो—

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति॥
एतद्दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः॥

(बालकांड, सर्ग ६६/३, ५, ६)

रामायण की सुनी-सुनाई कथा जो लोग जानते हैं, वे या राम के भक्तजन इतना जानते हैं कि जनक ने सीता के स्वयंवर के लिए शिवधनुष भंग करने की शर्त रखी थी या जो कोई धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा दे, उसका ही सीता वरण करेगी। ऐसी जनक ने घोषणा की थी। इसके अनुसार उस प्रचंड धनुष पर बीचो-बीच प्रत्यंचा चढ़ाते समय वह भंग हो गया, तब सीता ने वरमाला राम के गले में डाल दी और स्वयंवर मंडप में बड़े ठाट-बाट के साथ सीता और राम का विवाह समारोह संपन्न हुआ। किंतु उस धनुष की मूल कथा उसे शिवधनुष क्यों कहते हैं ? वह जनक के पास कैसे आया और उस धनुष के साथ राजा जनक का क्या संबंध था ? ये बातें कोई नहीं जानता है। कथा प्रवचन करने वाले या नारदीय परंपराएँ कीर्तन करने वाले ही इन बातों को नहीं जानते हैं, तो सामान्य आदमी उसे कैसे जान पाएगा ? लोकप्रसिद्ध 'सीता-स्वयंवर' का रामायण में तो कोई उल्लेख ही नहीं है। स्वयंवर-मंडप का भी नहीं। रावण के वक्षस्थल पर स्वयंवर मंडप में वह धनुष गिर जाने से रावण का जी घबराया, जबकि छोटी सी सीता खेलते-खेलते अकेली उसे गाड़ी की तरह खींचती रहती थी। सीता के स्वयंवर का निमंत्रण रावण को भेजते समय जनक कैसे अत्यंत विचलित हो गए आदि-आदि कपोल कल्पनाएँ मनगढ़ंत किस्से ही अधिक प्रचलित हो गए हैं, जिनका रामायण में कोई भी आधार या साक्ष्य नहीं है। जनक ने विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण को जो कथा सुनाई उसमें स्वयंवर शब्द कहीं पर नहीं आया है। इस वर्णन में न रावण है, न आमंत्रण है, न रावण का सीधा उत्तानपाद होकर गिरना है।

ये सब बातें मराठी के रामभक्त कवियों की रचनाओं में कही गई या पुराण-प्रवचनकर्ता, कीर्तनकारों ने इन्हें खूब बढ़ा-चढ़ाकर मनोरंजक बनाते हुए, हास्यरस को बढ़ाते हुए लगाई गई गप्पे हैं। सामान्य व्यक्तियों या इन कथाकारों को मूल रामायण से कोई लेना-देना नहीं था। अपने गुरुओं ने या उनकी बहियों में जो लिखा, वहीं वे कहते गए और जनमानस में ये सब किस्से दृढ़मूल होते गए। मूल रामायण रहा एक तरफ उपेक्षित और इन कीर्तनकारों को मदद मिली मराठी के महाकवि मोरोपंत, मुक्तेश्वर, वामन पंडित या रघुनाथ पंडित जैसों की काव्य-रचनाओं से। इन्हीं झूठ-मूठ की कथाओं से कीर्तनकारों और प्रवचनकर्ताओं की समाज में प्रतिष्ठा बनती गई।

इन कवियों की दृष्टि से मूल रामायण के महत्त्व को कम समझना उद्देश्य नहीं था। थे ये सारे ही रामभक्त। अपनी रचनाओं से लोग रामभक्ति में लगें, उनमें रुचि उत्पन्न हो, राम की महिमा समझें और यह असार संसार छोड़ते वक्त उन्हें रामकृपा का संबल मिले, यही इन कवियों का निर्मल उद्देश्य था। इस संबंध में न हमें कभी कोई आशंका थी और न ही है।

कवि, कलाकार, लेखक, कथाकार, प्रवचनकार या कीर्तनकार भले कितने ही निरंकुश क्यों न हों, ऐतिहासिक सत्य उनसे भी अधिक निरंकुश, स्थिर, अक्षर या अच्युत होता है, इसे हमें ध्यान में रखने की आवश्यकता है। कवि और कथाकारों के स्वातंत्र्य को कहीं-न-कहीं तो बंधन होना चाहिए, वह बंधमुक्त न हों। उन्हें स्वयं ही अपने बंधन या सीमाएँ तय करनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो मूल कथानक में प्रक्षेपक ही इतने हो जाते हैं कि उसका मूल स्वरूप विस्मृत हो जाता है। बाद में मूल रामायण कौन सा है और कपोल-कल्पित कौन सा—यह चर्चा विवाद के घेरे में भटककर रह जाती है।

स्वयंवर मंडप, उसमें रावण की फजीहत, सीता स्वयंवर, राम द्वारा दी गई माला के मोतियों में हनुमान् को राम न दिखाई देना, महाभारत में द्रौपदी का चीरहरण, उस समय उसकी साड़ी या वस्त्र को श्रीकृष्ण के द्वारा बढ़ाते रहकर द्रौपदी की लाज बचाना, अपनी बंद आँखों में संचित तेज से वज्रदेही बनाने के लिए गांधारी द्वारा दुर्योधन को विवस्त्र होकर बुलाया जाना, वयस्क दुर्योधन का गदायुद्ध में भीम को पराजित करने के लिए विवस्त्र होकर जाने के लिए तैयार हो जाना, श्रीकृष्ण की सलाह से अपनी कमर पर दुर्योधन का गेंदे के पुष्पों की माला लपेटना। ऐसी या इस प्रकार की अनेक कहानियाँ या किस्से गढ़े गए हैं, जो आधारहीन, असत्य, कपोलकल्पित और भ्रामक हैं। लेकिन लोग इन्हें ही पसंद करते हैं—संस्कृति की विकृति।

□

शिवधनुष और भूमि कन्या सीता

भगवान् शिव का दिव्य-भव्य धनुष अपने पास क्यों है, यह कथा मुनि विश्वामित्र से राजा जनक कहने लगे—निमि (जनक के वंश का आदिपुरुष) के ज्येष्ठ पुत्र देवरात को मिली अमानत के रूप में यह धनुष हमारे पास है, यह धनुष रुद्र का है। दक्ष के यज्ञ का विनाश करते समय क्रोध में संतप्त रुद्र ने देवताओं की सेना को तहस-नहस कर दिया था—

देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन्! हस्ते दत्तो महात्मना॥
दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायभ्य वीर्यवान्।
विध्वस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदब्रवीत्॥

क्रोध में संतप्त हो रहे भगवान् शंकर ने देवताओं से कहा—यज्ञ का हविर्भाग पाने की मेरी इच्छा होते हुए तुम लोगों ने नहीं दिया, इसलिए तुम्हारा मैं अब शिरच्छेदन करता हूँ। रुद्र की यह वाणी सुनकर दीन-हीन, निस्तेज होने लगे और शिवजी को प्रसन्न करने लगे। शिवजी प्रसन्न हुए और संहार के लिए धारण किया हुआ वह धनुष देवताओं को दे डाला। यह सुनाकर जनक ने कहा—देवाधिदेव भगवान् शंकर का धनुष हमारे शक्तिशाली पूर्वजों के पास देवताओं ने अमानत के रूप में रखा।

यस्ताद भागार्थिनो भागान्नाकल्पवत मे सुराः।
वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः॥
ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गवः!
प्रसादयन्त देवेरां तेषां प्रीतोऽभवद्भवः॥
प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्।
तदेतद्देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः।
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ॥

(बालकांड, सर्ग ६६/८-१२)

शिवधनुष की प्राप्ति की कथा कहकर जनक रुके नहीं, वे अब सीता कैसे मिली, यह बताने लगे। वे अग्निचयन के लिए क्षेत्र शुद्ध करने की दृष्टि से हल से खेत जोत रहे थे। उस हल से उन्हें एक कन्या मिली। वह हल से निकली, इसलिए सीता नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई।

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्भलादुत्थिता ततः।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता॥

(बालकांड, सर्ग ६६/१३)

भूमिकन्या सीता कैसे मिली, यह बताने के बाद जनक आगे का वृत्तांत विश्वामित्र से कहने लगे—हे महर्षि! यज्ञभूमि से उत्पन्न हुई यह मेरी कन्या धीरे-धीरे बड़ी होने लगी। उसकी 'वीर्यशुल्का' (पराक्रम से ही प्राप्त करने योग्य) कन्या के रूप में मैंने परवरिश की। अनेक राजा-महाराजाओं ने यहाँ आकर मुझसे उसका हाथ माँगा। परंतु उनमें से किसी की भी इच्छा सीता के वीर्यशुल्का होने के कारण मैंने स्वीकार नहीं की। कुछ समय बाद अनेक राजा-महाराजा इकट्ठे होकर अपने पराक्रम का अंदाजा लेने के लिए मिथिला नगरी में आए और अपनी ताकत का अंदाजा लेने आए, उन राजाओं के सामने मैंने यह शिवधनुष रखा, पर उनमें से कोई भी इस धनुष को उठा नहीं पाया—

तेषां जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम्।
न शेकुर्ग्रहणे तय धनुषस्तोलनेपि वा॥

''हे विश्वामित्र! हे महर्षि! उन राजाओं का पराक्रम अल्प है, यह जानकर मैंने उन्हें मना किया। उसका क्या परिणाम हुआ, यह भी आप सुनिए। सीता के विवाह के लिए मेरे द्वारा स्वीकारोक्ति न पाने से अपमानित उन राजाओं ने मिथिला नगरी को चारों ओर से घेर लिया। मेरी अस्वीकृति को उन्होंने स्वयं का तिरस्कार माना और अपनी सेनाओं के द्वारा हमें और नागरजनों को बहुत कष्ट दिया। यह स्थिति एक वर्ष तक बनी रही। नगरी में संगृहीत खाद्य सामग्री समाप्त हो गई। मेरे दुःख का कोई पार नहीं था। परंतु बड़े धैर्य के साथ और श्रद्धाभाव से मैंने अपनी तपस्या जारी रखी। तब देवगण प्रसन्न हुए और चतुरंगिणी सेना मुझे उपलब्ध कराई। इस सेना के आक्रमण से वे तथाकथित पराक्रमी शासक घबरा गए और जिसे जिधर रास्ता मिले, उधर वह भागता नजर आया। तात्पर्यतः, हे मुने! शिवधनुष की संक्षेप में यह कहानी है। वह अत्यंत उज्ज्वल धनुष मैं राम और लक्ष्मण को भी दिखाऊँगा। साथ में सीता-विवाह के संबंध में अपनी शर्त भी विश्वामित्र को बताते गए। राम यदि इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा देगा तो अयोनिजा सीता

का मैं दशरथनंदन से विवाह करा दूँगा।''

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम्॥

राजा जनक के द्वारा कहे गए वृत्तांत के अनुसार यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रचंड धनुष जनक के पूर्वजों के पास अमानत के रूप में रखा हुआ था और तब से कोई भी देव, गंधर्व या यक्ष उस धनुष को सज्ज नहीं कर पाया था। जिस किसी ने भी कोशिश की, अपयश ही उसके भाग्य में लिखा था। फिर जमीन जोतते हुए जनक को भूमिकन्या सीता मिली। सीता का जन्म और शिवधनुष, दोनों ही अद्‌भुत! इसीलिए जनक ने निश्चय किया कि जो वीर इस धनुष को सज्ज करेगा उससे ही सीता का विवाह होगा। यह उनकी शर्त थी—जो धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाएगा, वही वीर सीता से विवाह कर सकेगा। इसमें स्वयंवर जैसी कोई बात हमें तो दिखाई नहीं पड़ती।

स्वयंवर वह है जहाँ कन्या अपनी इच्छा से पुरुष को पसंद करती है। वह अपने मन और अभिमत, दोनों से किसी युवक को पसंद कर उसके गले में वरमाला डालती है, कन्या के माता-पिता या अन्य किसी रिश्तेदार की स्वयंवर में दर्शक के अलावा कोई भी भूमिका नहीं होती है। आज के प्रेम-विवाह को स्वयंवर परिवर्तित-संस्कारित रूप कह सकते हैं, पर 'लिव इन' उसका अग्रिम संस्करण कदापि नहीं माना जा सकता।

□

राम के द्वारा धनुर्भंग

शिवधनुष तथा सीता के विवाह के लिए जनक के द्वारा रखी गई शर्त के वृत्तांत को विस्तार से सुनने के बाद महर्षि विश्वामित्र ने वह प्रचंड धनुष दिखाने के लिए कहा। जनक ने भी तुरंत आदेश दिया—अभी-अभी धनुष की पूजा हुई होगी, उसे यहाँ ले आओ। राजा के अमात्य मिथिला नगरी में गए और उस धनुष को ले आए, ले क्या आए—बड़े-बड़े शक्तिसंपन्न और बलिष्ठ पाँच हजार पुरुष आठ चक्कों की विशाल पेटी में रखे उस धनुष को बड़ी मुश्किल से खींचते हुए वहाँ ले आए—

नृणां शतानि पञ्चाशत् व्यायतानां महात्मनाम्।
मञ्जूषामष्टचक्रांतां समूहुस्ते कथञ्चन॥

आठ चक्रों की लोहे की पेटी में खींचकर सामने धनुष रखवाते हुए जनक ने विश्वामित्र से कहा—हे ब्रह्मर्षि! मेरे महासामर्थ्यवान् परंतु धनुष सज्ज करने में असमर्थ पूर्वजों तथा ऐसे ही राजाओं द्वारा पूजा कर रखा हुआ, यही वह श्रेष्ठ धनुष है। बड़े-बड़े देवता, यक्ष, गंधर्व या असुरों में से कोई भी इस धनुष को उठाकर प्रत्यंचा चढ़ाने में सफल नहीं हुआ है। धनुष उठाने, प्रत्यंचा लगाने, उसे कान तक खींचने और हाथों में उसे संतुलित करने की सामर्थ्य किसी मनुष्य में कैसे हो सकती है। फिर भी हे मुनिवर! महाभाग्यवान्! धनुष आपके सामने है, आप इसको राजकुमारों को दिखाइए—

क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे।
आरोपणे समायोगे वेपने लोलनेऽपि वा॥
तदेतद् धनुषां श्रेष्ठं आनीतं मुनिपुङ्गव।
दर्शयैतद् महाभाग! अनयो राजपुत्रयोः॥

(बालकांड, सर्ग ६७/१०-११)

जनक के यथार्थ वचन सुनकर विश्वामित्र ने राम से कहा—वत्स राम! इस धनुष को देखो। राम ने तुरंत पेटी का भारी ढक्कन खोलते हुए धनुष को देखकर महर्षि से निवेदन किया—इस दिव्य और श्रेष्ठ धनुष को मंजूषा के अंदर मैंने हस्त स्पर्श किया। इसे उठाने और प्रत्यंचा चढ़ाकर कान तक खींचने की कोशिश करूँगा—

इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि वा॥

(सर्ग ६७/१४)

राम ने जनक से शिवधनुष की कथा सुनी थी। कोई भी उसे उठा तक नहीं पाया था। उस धनुष के वर्णन से ही उसे हाथ लगाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी और तो और राम के सामने ही ५,००० शक्तिसंपन्न पुरुष उसे खींचकर लाए थे और वह भी किसी तरह, बड़ी मुश्किल से। भव्य आकार को देख उसे उठाने का साहस कौन करता? उसकी लंबाई और वजन देखते ही आदमी घबरा जाए। पर युवावस्था में प्रवेश ही कर रहे राम पर उस धनुष की दिव्यता, भव्यता, आकृति किसी का कोई परिणाम ही नहीं हुआ!

अत्यंत शक्तिशाली और विकराल ताडका राक्षसी का राम ने जिस साहस और सहजता से वध किया, उसी से महर्षि विश्वामित्र इस बात को समझ गए होंगे कि राम केवल शरीर सामर्थ्य का ही स्वामी नहीं है, अपितु उसके पास दृढ़ मनोबल और दैवीय बल भी होना चाहिए। ताडका-वध के बाद राम ने मारीच जैसे राक्षस को पराजित खर-दूषण के साथ हजारों राक्षसों का निकंदन किया था। इससे शायद सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जवानी की दहलीज पर कदम रखते-रखते राम ने भस्मसात् हुई अहल्या को शापमुक्त कर तथा स्त्रीरूप देकर उसका उद्धार किया था। राम की १५-१६ की उम्र रही होगी। इसीलिए ये घटनाएँ मानवीय नहीं, बल्कि दैवीय थीं। इस पृष्ठभूमि में सिद्धाश्रम के सारे मुनियों तथा स्वयं विश्वामित्र ने भी राम के मानवेतर अद्भुत सामर्थ्य का अनुभव कर लिया था। इसीलिए वे मन-ही-मन चाह रहे थे कि राम कम-से-कम एक बार ही सही, जनक के संग्रह में रखे शिवधनुष को देख तो लें। उनकी अंतरात्मा की आवाज कह रही थी कि राम उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा लेगा। अब तक तो धनुष अजेय सिद्ध हो ही चुका था।

'धनुष उठाने का मैं प्रयास करता हूँ', यह कहते ही राम को जनक और विश्वामित्र ने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलते ही राम ने उस धनुष को मध्य में पकड़कर बड़ी आसानी से, सहजता से उठा लिया—

लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः॥ १५॥

शरीर में राम की अपेक्षा कई गुना बलशाली और शक्तिसंपन्न कोई भी देव, दैत्य, यक्ष, गंधर्व या राजा-महाराजा उस धनुष को उठा तक नहीं पाए थे, उस प्रचंड धनुष को राम ने कितनी सहजता से उठाकर पकड़े रखा। राम का शरीर बहुत बलवान, लंबा-चौड़ा नहीं था। दीखने में वह सामान्य युवक की तरह शरीरयष्टि वाला था। ऐसा सामान्य नजर आने वाला राम इतने बड़े धनुष को कैसे उठाएगा? या प्रत्यंचा चढ़ाना तो इसके बूते की बात नहीं है, ऐसा माननेवाले हजारों दर्शक और राजा-महाराजा वहाँ मौजूद थे। पर जो हुआ वह तर्क और बुद्धि से परे था। यह चमत्कार देखकर उपस्थित ऋषि-मुनियों और राजा-महाराजाओं को अपनी आँखें धोखा तो नहीं दे रहीं—ऐसा लगने लगा। इतना सा छोटा राम इतने बड़े धनुष को उठाता है, यह देखकर लोग अवाक् हो गए, बोलती बंद हो गई। स्तंभित हुए प्रेक्षक कुछ समझे न समझे इस बीच उस धर्मात्मा राम ने धनुष पर प्रत्यंचा भी चढ़ा दी—

पश्यतां नृसहस्त्राणां बहूनां रघुनंदन।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः॥ १६॥

हजारों लोगों के देखते-ही-देखते राम ने बड़े ही सहज भाव से अनायास, उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। स्वप्न देख रहे हैं या सत्य; पर किसी की समझ में नहीं आ रहा था। तभी राम ने प्रत्यंचा को कान तक खींच लिया और धनुष बीचो-बीच से टूट गया—

आरोपयित्वा मौर्वीं च पूरवाभास तद्धनुः।
तद् बभज्ज धनुर्मध्ये वरश्रेष्ठो महायशाः॥ १७॥

इतना बड़ा धनुष टूट गया। आसमान पर तथा लोगों पर उसका क्या असर हुआ? वाल्मीकि कहते हैं—उस समय कड़कड़ाती बिजलियों की भयंकर आवाज हुई और विदीर्ण हुए पहाड़ों की टूटकर गिरने जैसी भूकंप की ध्वनि सुनाई दी—

तस्य शब्दों महानासीन्निघति समनिस्वनः।
भूमिकम्पश्च सुमहान्पर्व तस्येव दीर्यतः॥ १८॥

इतनी भयंकर आवाज हुई कि राम-लक्ष्मण, विश्वामित्र और जनक के अलावा उपस्थित सारे ही लोग मूर्च्छित-बेहोश हो गए—

निपेतुश्च नरा सर्वे तेन शब्देन मोहिताः।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ॥ १९॥

दशरथनंदन राम को दिखाने के लिए जब हजारों राजसेवकों द्वारा वह प्रचंड धनुष लाया जा रहा था तब वह बात पूरी मिथिला नगरी में फैल गई। अब तक तो धनुष को कोई नहीं उठा पाया। देखें राम की क्या हालत होती है, इस सोच में हर कोई जनक की यज्ञशाला की ओर रवाना हुआ। वहाँ पहले से ऋषि-मुनियों और अनेक देशों के राजा-महाराजाओं की अच्छी-खासी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। स्वयं जनक और सभी लोगों को राम की शरीराकृति देखकर मन में संशय तो उत्पन्न होना ही था, पर राम ने न केवल उस धनुष को उठाया, बल्कि कान तक डोरी खींचकर उसे बीचो-बीच से तोड़ डाला। धनुष को सहजता से उठाने में राम की सामर्थ्य ने और धनुष के टूटने से हुई भयंकर आवाज से लोग स्तंभित, आश्चर्यचकित, मूर्च्छित होते गए। जो देखा उसे देख पाना और जो ध्वनि हुई, उसे सुन पाना असामान्य था। इसीलिए बेहोशी लोगों को अपने आगोश में लेती गई।

धनुर्भंग की इस एक ही घटना ने राम की कीर्ति सभी दिशाओं, बल्कि त्रिलोक में व्याप्त हुई। राम 'यशः श्री' हुए, इसीलिए वह 'श्रीराम' होकर त्रिलोक में वंदनीय हुए।

□

स्वयंवर की संकल्पना

राम के द्वारा शिवधनुष के भंग होने से हुई भयंकर ध्वनि से बेहोश हुए राजा-महाराजा तथा उपस्थित नागरजन पूर्वस्थिति में आने पर राजा जनक ने हाथ जोड़कर विश्वामित्र महर्षि से निवेदन किया— भगवन्! दशरथनंदन राजकुमार का पराक्रम मैंने देख लिया, यह अत्यत अद्भुत पराक्रम राम दिखा सकेगा, ऐसा मैंने कभी सोचा भी नहीं था, न ही मन में इस बाबत तर्क-वितर्क का कोई भाव उपजा। जनक-वंश में मेरी यह कन्या सीता पतिरूप में राम को प्राप्त कर निश्चय ही यश प्राप्त करेगी। हे कुशिक नंदन मुने! सीता 'वीर्यशुल्का' रहेगी; यह मेरी प्रतिज्ञा (अब कहीं जाकर) पूरी हुई। अब मेरे लिए अपने प्राणों से भी प्यारी सीता राम को (पत्नी रूप में) दी जानी है—

भगवन्! दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः।
अत्यद्भुत्तमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं मया॥
जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता।
सीता भर्तादमासाय रामं दशरथात्मजम्॥
मया सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक!
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता॥

(बालकांड, अध्याय ६७/२१-२३)

शिवधनुष को जैसे ही राम ने भंग किया वैसे ही उत्पन्न ध्वनि से जनता बेहोश हो गई। छाई हुई बेहोशी से लोग होश में आने लगे तब अपनी प्रतिज्ञा होने के कारण प्राणों से प्यारी अपनी सीता बिटिया राम को देने की बात जनक कर रहे थे, परंतु राम के द्वारा धनुष के भंग होते ही हाथ में वरमाला लिये लजाती-सकुचाती सीता ने राम के गले में वरमाला डाल दी। ऐसा रामायण में कहीं पर उल्लेख नहीं है। जो कोई भी वीर शिवधनुष को उठाकर प्रत्यंचा चढ़ा देगा, वह भी केवल स्वयं की सामर्थ्य पर, उसे भूमिकन्या सीता

दी जाएगी, यह जनक की प्रतिज्ञा थी। इसलिए उस समय वहाँ सीता के किसी स्वयंवर समारोह का आयोजन नहीं किया गया था। जो भी धनुष देखने आया, उसे समान आदरभाव से जनक ने वह दिखाया, लेकिन ऐसा साहस दिखानेवाले कम ही थे। मिथिला नगरी के राजप्रासाद में रखे उस भव्य धुनष को कहीं पर ले जाने के लिए हजारों सेवकों की जरूरत पड़ती थी। हर बार ऐसे विकट धनुष को देखने वाले भी हजारों की तादाद में उपस्थित रहते होंगे। ऐसे हर प्रदर्शन के समय सीता हाथ में माला लिये खड़ी थोड़े ही रहती थी ? और ऐसा होना संभव भी नहीं था। राम ने जब धनुष को हाथ लगाया और उसे उठाकर तोड़ दिया, उस समय आसपास सीता की सामान्य उपस्थिति का उल्लेख रामायणकार ने नहीं किया, वरमाला लेकर खड़े रहना तो दूर की बात है।

प्राचीन काल से ११-१२वीं शती तक क्षत्रिय शासकों में प्राय: स्वयंवर होते रहे हैं। युवा कन्या को अपनी इच्छा से अपना वर चुनने का अधिकार था। इस परंपरा में विवाह योग्य क्षत्रिय कन्या का पिता विवाहेच्छुक राजकुमारों को अपनी राजधानी में निमंत्रित करता था। स्वयंवर का मंडप या शामियाना खड़ा किया जाता। विवाहोत्सुक राजकुमारों के अलावा दर्शकों के लिए भी अलग से बैठने की व्यवस्था की जाती। स्वयंवर के दिन सोलह शृंगार किए राजकुमारी अमात्यों या अपने भाइयों अथवा प्राय: सखियों के साथ स्वयंवर मंडप में प्रवेश करती। उसके साथ राजप्रतिनिधि राजकुमारों का परिचय और आसन क्रम लिखित रूप में अपने साथ रखते। वरमाला हाथ में लिये राजकन्या प्रत्येक राजकुमार के सम्मुख क्षण भर खड़ी रहती। राजप्रतिनिधि उस राजकुमार का परिचय पढ़ते। राजकन्या परिचय सुनते-सुनते राजकुमार का रूप देखती, बल का अनुमान करती। किसी राजकुमार की उपलब्धियों के साथ उसका सौंदर्य राजकन्या को प्रभावित करता तो तुरंत वह हाथ में ली हुई वरमाला उसके गले में डालती। शेष राजकुमार अपनी राजधानियों को लौटते। स्वयंवर के समारोह की प्राय: यही पद्धति थी।

कब बना पता नहीं, पर जब से विश्व बना, मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ सनातन, अपरिवर्तनीय रही हैं। स्वयंवर के लिए आनेवाले उत्साही, सुंदर और पुरुषार्थी राजकुमार भले ही सैकड़ों की तादाद में आए हों, वरमाला तो किसी एक के ही गले में पड़ती, बाकी निराश ही होते, अपमानित महसूस करते। उस निराशा और अपमान से क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या जैसे विकार उन्हें वधू पिता से बदला लेने के लिए दुष्प्रेरित करते। अपना क्रोध उतारने, निराशा से ऊपर उठने वे एकजुट होकर वधू के पिता पर धावा बोल देते। आज भी अपनी स्वप्नसुंदरी प्रेयसी के विवाह के लिए मना करने पर प्रेमी पुरुष क्रूर हो जाता है। प्रेयसी की अमानुषी हत्या तक कर डालता है। प्राचीन स्वयंवरों में निराश और अपमानित राजकुमारों की हिंसक प्रवृत्ति की परंपरा ही तो है यह!

प्राचीन भारत में क्षत्रिय राजघरानों में कुछ सुसंस्कारित, विधा-गुण संपन्न रूपसी

राजकन्याएँ क्वचित् ही स्वयंवर करती आई हैं। सावित्री-सत्यवान् और इंदुमती-अज का विवाह ऐसे स्वयंवर में ही संपन्न हुआ था, थे ये स्वयंवर; पर माता-पिता की सहमति से समर्थित।

शिव-पार्वती का विवाह भी स्वयंवर ही था, पर पार्वती के पिता का इस विवाह से विरोध था। पार्वती की कठोर तपस्या का ही यह सुफल था कि अंततोगत्वा पिता ने अपनी अनुमति दी।

इतिहास-पुराण में बहुचर्चित दो स्वयंवर रहे हैं। पहला—दमयंती और नल का। विदर्भ प्रदेश के राजा भीम की लाडली बेटी दमयंती। भीम ने अनेक देशों-राज्यों के राजाओं-राजकुमारों को निमंत्रित किया। स्वयंवर के आलीशान समारोह का आयोजन हुआ। दमयंती ने वरमाला निषध राज्य के पराक्रमी और रूप, गुण, संपन्न नल के गले में डाल दी।

दूसरा प्रसिद्ध स्वयंवर रुक्मिणी स्वयंवर है, जिसे श्रीमद्भागवत में व्यासजी ने निबद्ध किया है। श्रीकृष्ण के सौंदर्य और पराक्रम पर रुक्मिणी मुग्ध हो गई थी। मन-ही-मन उसने श्रीकृष्ण को ही पसंद किया था। परंतु रुक्मिणी के भाई ने रुक्मिणी का विवाह चेदी के शासक शिशुपाल से करना तय किया था। रुक्मिणी सबकुछ समझ गई थी। उसने बड़े साहस के साथ चतुराई से किसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को श्रीकृष्ण के पास भेजा और अपनी इच्छा का सम्मान करने के लिए निवेदन किया । शिशुपाल से विवाह अभी होना था, रुक्मिणी कुलदेवताओं के दर्शन के लिए मंदिर में गई थी। अवसर पाकर श्रीकृष्ण उसे ले उड़े और फिर विवाह किया। यह भी एक स्वयंवर था।

स्वयंवर कही जानेवाली विवाह की ही एक परंपरा है, जिसमें कन्या को पत्नी रूप में पानेवाले को पिता की शर्त पूरी करनी होती थी। जो शर्त पूरी करेगा, वह वीर ही कन्या को प्राप्त कर सकेगा। यह प्रथा प्राय: राजघरानों में ही थी। लेकिन इसे स्वयंवर कहने की रीत हो गई, वास्तव में यह कोई स्वयंवर हो ही नहीं सकता था। राजकन्या की इच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं था। यह कैसा स्वयंवर। द्रौपदी-स्वयंवर ऐसा ही स्वयंवर कहलाया। जनक ने भी सीता के लिए शर्त पूरी कराने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। राम ने वह शर्त पूरी कर दी तो जनक सीता देने के लिए तैयार हो गए।

यहाँ पर स्वयंवर की इतनी विस्तृत चर्चा करने का उद्देश्य यह है कि जनमानस में तथाकथित सीता-स्वयंवर के संबंध में जो भ्रांतियाँ व्याप्त हैं, वे दूर हों तथा रामायण से परिचित होते हुए भी अपरिचित रमायण को ठीक से समझ लें। प्रसिद्ध चित्रकार रवि वर्मा ने सीता स्वयंवर का एक चित्र बनाया हुआ है, जिसमें स्वयंवर मंडप में अनेक राजा-महाराजाओं के समक्ष शिवधनुष को तोड़ फेंकनेवाले राम के गले में वरमाला डालने के लिए आ रही सीता को चित्रांकित किया गया है। रामायण को पढ़ने की जहमत कौन

उठाए। ऐसे चित्र आसानी से देखे जा सकते हैं, ज्ञान भी तुरंत मिलता है; इसलिए जनसामान्य ऐसे चित्रों से अधिक प्रभावित होता गया। इन चित्रों का साथ दिया देशी भाषाओं के कवियों, लेखकों और गीतकारों ने। रचनाएँ होती गईं, गीत गाए जाते रहे, कवि और गायकों ने न हुए सीता-स्वयंवर को भी लोकप्रिय बना दिया। ऐसी ही फुटकर मान्यताओं पर बने 'सीता-स्वयंवर' चलचित्र और सीता के द्वारा गाया 'मनोरथ! चल उस नगरी को' गीत बरसों तक लोगों की जुबान पर रहा। कीर्तनकार, पुराणवाचक, प्रवचनकार सब-के-सब सीता स्वयंवर की लीक पीटते रहे। किसी को भी महसूस नहीं हुआ कि देखें मूल-रामायण में क्या लिखा है।

आप बताइए, सीता का स्वयंवर हुआ या वह नियोजित विवाह था?

□

विवाह का प्रस्ताव

राम ने शिवधनुष को भंग किया—इस घटना से पूर्ण-प्रतिज्ञ हुए जनक अत्यंत प्रसन्न हुए। अपनी पुत्री राम को ही देनी है यह निश्चय कर उन्होंने विश्वामित्र से निवेदन किया—आप राम के इस अद्‌भुत पराक्रम का वृत्तांत राजा दशरथ तक पहुँचाकर उन्हें इस बात से अवगत करा दें कि मैं सीता का विवाह राम से करना चाहता हूँ। महर्षि ने भी तत्काल अपने दूत अयोध्या के लिए रवाना किए।

कूच-दर-कूच करते हुए विश्वामित्र के दूत चार-पाँच दिनों में अयोध्या पहुँच गए और दशरथ से मिलकर उन्होंने निवेदन किया—राम के द्वारा शिवधनुष को भंग किए जाने पर जनक ने आपको यह संदेश देने के लिए हमें कहा है कि वे सीता पत्नी रूप में राम को देना चाहते हैं, इसलिए राम के शुभ विवाह के लिए आपको सपरिवार मिथिला पधारने के लिए उन्होंने निमंत्रित किया है। जनक के दूतों से यह वृत्तांत जानकर दशरथ, उनकी रानियाँ, मंत्रिगण तथा सारे ही अयोध्यावासी आनंदित हुए। उनके परमप्रिय राम का विवाह अचानक, अकस्मात् हो रहा था।

दशरथ ने इस विषय में कुलगुरु वसिष्ठ से परामर्श किया और उनकी सहमति प्राप्त होते ही सपरिवार, सदलबल, कुलगुरु के साथ शीघ्रातिशीघ्र मिथिला नगरी पहुँचे। राजा जनक ने राजकीय शिष्टाचारों के अनुसार कुलगुरु वसिष्ठ, दशरथ तथा अन्य श्रेष्ठ अतिथियों का यथायोग्य स्वागत कर दशरथ से निवेदन किया। राम के द्वारा धनुर्भंग होने से मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई। प्रतिज्ञा के अनुसार मैं अब सीता को पत्नी के रूप में राम को देना चाहता हूँ। जनक का यह निवेदन दशरथ ने तत्काल स्वीकार किया।

विश्वामित्र के दूत अयोध्या पहुँचकर दशरथ के मिथिला तक आने के दरमियान जनक ने संकाश्या नगरी के स्वामी और अपने छोटे भाई कुशध्वज को मिथिला बुला लिया। दूसरे दिन जनक ने अपने मंत्रीवर सुदामा को भेजकर राजा दशरथ और कुलगुरु वसिष्ठ को ससम्मान बुलावा भेजा। दशरथ ने स्थानापन्न होने पर कहा—कुलगुरु वसिष्ठ

हमारे लिए कुलदेवता ही हैं। हमारे किसी भी कार्य के संबंध में जो कुछ कहना या बतलाना, भगवान् वसिष्ठ ही बोलेंगे। वे अब विश्वामित्र मुनि की स्वीकृति से हमारी कुल परंपरा आपको समझा देंगे। वसिष्ठ ने इक्ष्वाकु वंश परंपरा की नामावलि कहना शुरू किया। यथा—

मूल ब्रह्मदेव से १. चतुर्मुखी ब्रह्मदेव, २. मरीची, ३. कश्यप, ४. निवस्वान, ५. मनु इक्ष्वाकु (अयोध्या का प्रथम शासक), ७. कुक्षि, ८. विकुक्षि, ९. बाण, १०. अनरण्य, ११. पृथु, १२. त्रिशंकु, १३. धुंधुमार, १४. युवनाश्व, १५. मांधाता, १६. सुसंधि, १७. ध्रुवसेन तथा प्रसेनजित्। १८. ध्रुवसंधि से भरत, १९. असित, २०. सगर, २१. असमंज, २२. अंशुमान, २३. दिलीप, २४. भगीरथ, २५. ककुत्स्थ, २६. रघु, २७. प्रवृद्ध जो आगे चलकर अपने बहुरंगी पैरों के कारण कल्माषपाद कहलाया। २८. शंखण, २९. सुदर्शन, ३०. अग्निवर्ण, ३१. शीघ्रग, ३२. मरु, ३३. प्रशुश्रुक, ३४. अंबरीष, ३५. नहुष, ३६. ययाति, ३७. नाभाग, ३८. अज, ३९. दशरथ, ४०. राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न।

रघुकुल की कुल परंपरा सुनाने के बाद वसिष्ठ ने जनक से कन्या (राम को) देने के लिए कहा। तब जनक ने वसिष्ठ से कहा—हे मुनिश्रेष्ठ! कन्यादान के समय कुलीन पुरुष को अपना भी कुलवृत्तांत कहना चाहिए। अतः अब आप हमारी वंश-परंपरा सुनिए—

प्रदाने ही मुनिश्रेष्ठ! कुलं निरवशेषतः।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते॥

जनक ने अपनी वंश-परंपरा को इस प्रकार बताया—१. निमि, २. मिथि, ३. जनक (जनक-वंश-स्थापक), ४. उदावस्तु, ५. नंदिवर्धन, ६. सुकेतु, ७. देवरात, ८. वृहद्रथ, ९. महावीर, १०. सुधृति, ११. धृष्टकेतु, १२. हर्यश्व, १३. मरु, १४. प्रतीधक, १५. कीर्तिरथ, १६. देवमीढ़, १७. विबुध, १८. महीध्रक व कीर्तिरात, १९. कीर्तिरात से महारोमा, २०. स्वर्णरोमा, २१. ह्रस्वरोमा, २२. जनक और कुशध्वज।

जनक की दो कन्याएँ थीं—औरस कन्या उर्मिला और भूमि कन्या सीता। राम को सीता तथा लक्ष्मण को उर्मिला विवाह पत्नी रूप में देने का निश्चय कर तीन बार वशिष्ठ के समक्ष अपना निर्णय बोलने लगे। जनक ने कहा—हे महाभाग! ईश्वर आपका कल्याण करे। मैं राम के लिए वीर्यशुल्का सीता देता हूँ, देता हूँ, देता हूँ; तथा लक्ष्मण के लिए अपनी औरस कन्या उर्मिला देता हूँ, देता हूँ, देता हूँ। मैं अपनी ये कन्याएँ सहर्ष आपके सुपुर्द कर रहा हूँ। जनक के ही शब्द देखिए—

सीतां रामाय भद्रं ते उर्मिलां लक्ष्मणाय वै।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपयाम्॥

द्वितीयामुर्मिलां चैव निर्वदामि न संशयः।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव॥

(बालकांड, अ. ७१/२१-२२)

इसके पश्चात् दशरथ की ओर देखकर जनक ने कहा—हे राजन्! अब आप राम-लक्ष्मण का गोदान संस्कार, नांदी-श्राद्ध वगैरह संस्कार संपन्न कराइए और बाद में विवाह संस्कार संपन्न कराइए। हे महापराक्रमिन्! हे प्रभो! आज मघा नक्षत्र है। आज से तीसरे दिन उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में विवाह-संस्कार कराएँ तथा राम-लक्ष्मण के अभ्युदय के कुछ सुखवृद्धिकारक दान भी कराइएगा—

राम-लक्ष्मणयो राजन्! गोदानं कारयश्च ह।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु।
मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो॥
फाल्गुन्यांमुत्तरे राजन्! तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखावहम्॥

(बालकांड, ३१-७१/२३-२५)

राजा जनक का कथन यहाँ मूलरूप में उद्धृत किया है। उसका उद्देश्य यह है कि उनके बोलने में विवाह-संस्कार संपन्न करने के लिए आग्रह प्रकट हो रहा है, यह तथ्य पाठकगण जान लें। विवाह कब करना उपयुक्त होगा, यह तो जनक बता ही रहे हैं पर उससे पूर्व कौन-कौन से संस्कार किए जाने चाहिए, यह भी सुझा रहे हैं। विवाह-पश्चात् राम-लक्ष्मण के अभ्युदय के लिए दान-धर्म करने की सूचना देने से भी वे नहीं चूकते हैं।

यदि धनुर्भंग होते ही सीता ने राम के गले में वरमाला डाली होती तो राम-सीता के विवाह का प्रस्ताव अयोध्या तक भिजवाने की जरूरत ही क्या थी! परंतु यहाँ तो धनुर्भंग होने पर जनक ने पहला काम यही किया है कि अयोध्या से राम के अभिभावकों को बुलावा भेजा है। इस सारे घटना-चक्र में सीता का तो कहीं उल्लेख भी नहीं है। न सीता कहीं पुलकित हुई, न उसकी प्रसन्नता को जनक ने ही कहीं अभिव्यक्त किया है और न ही विश्वामित्र ने कोई प्रतिक्रिया प्रकट की। सीता-स्वयंवर की तो कहीं झलक भी नहीं है।

राम के द्वारा धनुष भंग किए जाने से जनक की प्रतिज्ञा पूरी होने से वे राम को सीता देने के लिए तैयार हुए हैं, लेकिन विधिवत् कन्या-संस्कार कराने के पश्चात्। जनक का विवाह-संस्कार कराने का आग्रह उपर्युक्त पंक्तियों में संपूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इसलिए पाठक महानुभावो! सीता का स्वयंवर नहीं हुआ, राम से उनका विवाह संपन्न हुआ था।

□

सीता : विवाह से पूर्व

सीता और उर्मिला का विवाह राम और लक्ष्मण से करने के लिए जनक द्वारा किया गया निवेदन कुलगुरु वशिष्ठ के सम्मुख दशरथ ने स्वीकार किया। तब विश्वामित्र ने एक और प्रस्ताव जनक के समक्ष रखा। विश्वामित्र ने कहा—आप दोनों के राजवंश बड़े ही यशस्वी हैं। आपके छोटे भाई कुशध्वज के मांडवी और श्रुतकीर्ति नामक अप्रतिम कन्याएँ हैं। उन्हें हम भरत और शत्रुघ्न के लिए चाहते हैं। इस पर जनक बहुत प्रसन्न हुए। दशरथ और वसिष्ठ की इन विवाहों के लिए सहमति देखकर प्रसन्नचित्त जनक ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा। आपका कल्याण हो। भरत और शत्रुघ्न कुशराज की इन दोनों कन्याओं को स्वीकार करें तथा हे महामुने! चारों ही महापराक्रमी राजकुमार एक ही दिन इन चारों कन्याओं का पाणिग्रहण करें। हे ब्राह्मण! उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र की भगदेवता है, अत: विद्वान् लोगों ने इस नक्षत्र में विवाह को श्रेष्ठ माना है, यथा—

> एवं भवतु भद्रं व: कुशध्वजसुते इमे।
> पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ॥
> एकह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
> पाणीन्गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा: महाबला:॥
> उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिण:।
> वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापति:।
>
> *(बालकांड, सर्ग ७२/११-१३)*

यहाँ पर भी अपने कुल की चारों राजकन्याओं का विवाह-संस्कार हो, इसे जनक दुबारा कह रहे हैं—स्वयंवर कहीं नहीं है!

जनक ने फिर महर्षि विश्वामित्र और वशिष्ठ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए 'इस संबंध से अपना वंश पुण्यवान् सिद्ध हुआ' यह कहकर समाधान प्रकट

किया। दशरथ ने भी जनक और कुशध्वजराज के विनम्र भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। जनक और कुशध्वज से विदा लेकर वसिष्ठ और विश्वामित्र के पीछे-पीछे राजा दशरथ नांदीश्राद्ध आदि विवाह-पूर्व संस्कारों की तैयारी के लिए अपने डेरे लौट आए। उस दिन दशरथ ने नांदीश्राद्ध किया तथा दूसरी सुबह नित्यकर्म संपन्न कर चारों ही राजकुमारों के लिए गोदान संस्कार किया। अपने चारों ही पुत्रों के उत्कर्ष के लिए दशरथ प्रत्येक पुत्र के नाम से कांस्य के दोहनपात्र के साथ एक लक्ष गाएँ ब्राह्मणों को दान में दीं। अन्य उपस्थित ब्राह्मणों को भी प्रचुर द्रव्य दान में दिया।

उसी दिन कैकयराजा के पुत्र तथा कैकेयी के भाई वीर युधाजित् दशरथ से मिलने के लिए आए। कैकयराज अपने दोहिते भरत से मिलना चाहते हैं यह सूचना युधाजित् ने दशरथ के पास भेजी थी। युधाजित् पहले अपने भानजे से मिलने अयोध्या गया था। वहाँ उसे मालूम पड़ा कि दशरथ विवाह-कार्य से मिथिला गया हुआ है। इसलिए युधाजित् मिथिला आकर दशरथ से मिला।

युधाजित् को अकस्मात् आया हुआ अतिथि मानकर उसकी पूजा की, यथोचित स्वागत-सत्कार किया और उसे अपने डेरे में ही रख लिया। दशरथ ने अपने परिवार के साथ मिथिला में वह रात आनंदपूर्वक बिताई।

दूसरे दिन प्रात: नित्यकर्मों से निवृत्त हो दशरथ सपरिवार ऋषि-समूह के पीछे-पीछे यज्ञशाला के पास पहुँचे। इतने में सभी तरह के अलंकार धारण किया राम स्वस्तिवाचन के बाद अपने तीनों ही भाइयों के साथ कुलगुरु वशिष्ठ व अन्य महर्षियों के साथ विजय मुहूर्त पर यज्ञशाला के निकट पहुँचा। तब कुलगुरु वसिष्ठ ने जनक से कहा—हे राजन्! हे पुरुषश्रेष्ठ! मंगल स्वस्तिवाचनादि के पश्चात् दशरथ अपने पुत्रों के साथ कन्यादान की प्रतीक्षा में हैं। क्योंकि लेने और देनेवाले कौन, यह तय होने पर ही सभी कार्य संपन्न होते हैं, इसलिए उत्कृष्ट रूप से विवाह-संपन्न कर आप अपना कर्तव्य पूरा करें—

राजा दशरथो राजन्! कृत कौतुकमङ्गलैः।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठो दातारमभिकाङ्क्षते॥
दातृप्रतिगृहीतृभ्यां सर्वार्थाः सम्भवन्ति हि।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम्॥

(बालकांड, सर्ग ७३)

विवाह-मंडप के बाहर से जनक वरपक्ष के दशरथ, चारों वरों तथा गुरु वशिष्ठ को बड़ी प्रसन्नता और आदर के साथ मंडप में ले आए। उन्होंने कुलगुरु वशिष्ठ से निवेदन किया—हे मुनिश्रेष्ठ! अग्नि की प्रदीप्त ज्वालाओं की तरह अत्यंत तेजस्वी हमारी

ये कन्याएँ पुण्याहवाचन (स्वस्तिवाचन) आदि मांगलिक विधि संपन्न कर वेदी के समीप आई हुई हैं। मैं स्वयं भी इसी वेदी के समीप आप लोगों की ही प्रतीक्षा में बैठा हूँ। अत: सभी धार्मिक विधियों को निर्विघ्न रूप से संपन्न होने दीजिए। बिना प्रयोजन के अब विलंब किसलिए? इसके विदेहाधिपति जनक ने पुन: निवेदन किया—हे धर्मनिष्ठ ऋषि! हे प्रभो! उपस्थित सभी ऋषियों के साथ आप संसार भर को मोहित करनेवाले राम (तथा भाइयों) का विवाह-संस्कार कराए। भगवान् वसिष्ठ ने भी कहा, ठीक है—

ततो राजाविदेहानां वसिष्ठमिदभब्रवीत।
कारयस्व ऋषे सर्वमृषिभि: सह धार्मिक॥
रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकी प्रभो।
तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवान् ऋषि:॥

(बालकांड अध्याय ७३/१८-१९)

तत्पश्चात् विश्वामित्र और शतानंद मंगल-विधि का पौरोहित्य सँभालते हुए वसिष्ठ ने यज्ञमंडप में सविधि वेदी को तैयार कर चंदन, सुगंधित द्रव्य तथा पुष्पों से उसे सुशोभित किया। उस वेदी में वशिष्ठ ने यथाविधि मंत्रोच्चारण के साथ अग्नि को सिद्ध कर स्वयं हवन किया।

अहल्या का उद्धार कर राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ मिथिला पहुँचे थे। वहाँ से लेकर विवाह के मुहूर्त तक किसी भी घटना में सीता की कोई चर्चा नहीं है। वह कहीं दिखाई नहीं पड़ रही है। राम के द्वारा शिवधनुष को भंग किए जाने पर सीता की कोई प्रतिक्रिया का रामायण में कोई संकेत भी नहीं है। जनक के राजप्रासाद अथवा सीता के कक्ष में अपनी सखियों के साथ सीता द्वारा कोई चर्चा करने का भी उल्लेख नहीं है, न ऐसे किसी वार्त्तालाप का जनक के द्वारा भी कहीं संकेत किया गया है। विशेष बात यह है कि विवाह से पहले राम या सीता द्वारा परस्पर अवलोकन-मात्र किया, यह भी उल्लेख नहीं है। जनक की भूमिकन्या सीता अपनी बहू बनने वाली है, उसे एक बार देख तो लें, ऐसी दशरथ या उसकी रानियों में किसी की भी इच्छा नहीं हुई । यह कितना आश्चर्य है? दशरथ को ऐसे न लगना समझ में आता है, पर कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी का भी मन बहू का मुँह देखने के लिए लालायित नहीं हुआ।

विवाह से पहले सीता और दशरथ की रानियों की भेंट हुई होगी, पर क्या वाल्मीकि ने उस घटना को उपेक्षित किया? स्त्री-जाति के सनातन स्वभाव को देखते हुए दशरथ की रानियों ने अपनी होने वाली बहुओं का मुखावलोकन किया ही नहीं होगा, यह बात कम जँचती है। यदि वास्तव में ही रानियों और होनेवाली उनकी बहुओं की परस्पर भेंट न हुई हो, तो यह बात भी प्रकृति विरुद्ध ही प्रतीत होती है। कुछ पहले

का समय याद कीजिए। घर के बड़े-बूढ़े ही विवाह तय करते थे। सारे अधिकार उनके पास ही थे, इसलिए शादी से पूर्व वर-वधू के परस्पर देखने या मिलने का कोई सवाल ही नहीं उठता था।

लगता है यह प्रथा रामायण काल से ही शुरू हुई होगी।

महर्षि विश्वामित्र, वसिष्ठ या दशरथ ने सीता कैसी दिखाई देती है, इसकी कोई पूछताछ नहीं की होगी। यह हम समझ सकते हैं, परंतु निर्णय लेने में सक्षम राम के विषय में आप क्या कहेंगे? सीता के बारे में सामान्य जानकारी लेने की तो वह पहल करता। उसका स्वभाव, रुचियाँ कुछ तो जानने की चेष्टा तो करता। पर राम ने सीता के बारे में यत्किंचित् भी जिज्ञासा प्रकट नहीं की है।

इतना बड़ा शिवधनुष तोड़ने पर वीर्यशुल्का वधू ने क्या सोचा होगा? इतने महापराक्रमी, वीर, अपने होने वाले पति को देखने की इच्छा भी रूपसी सीता को नहीं हुई होगी? तब फिर इस विवाह-समारोह में सीता कब प्रकट होती है?

□

राम के पुरुषार्थ की उपेक्षा

'हे प्रभो! संसार को मोहित करनेवाले इस राम की वैवाहिक-क्रिया आप संपन्न करें, यह जनक के द्वारा कहे जाने पर वसिष्ठ ने भी विवाह के पर्व की विधियाँ संपन्न कर अग्नि में हवन किया। तब सभी अलंकार धारण की हुई सीता को लाकर जनक ने अग्नि और राम के समक्ष खड़ा किया—

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा॥

और कौसल्या का आनंद बढ़ानेवाले राम से कहा—यह मेरी सीता आपकी सहधर्मिणी है। आपका कल्याण हो। आप इसे स्वीकार कर अपने हाथ से पाणिग्रहण करें। महाभाग्यशाली यह पतिव्रता सीता (तुम्हारी) छाया की तरह आपका अनुसरण करेगी—

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥
प्रतीच्छचैना भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥

(बालकांड, सर्ग ७३/२५-२७)

आज की भाषा में यही कहें तो गौरी पूजन के समय गरदन नीचे झुकाकर बैठी, लजाती, सकुचाती सीता को अग्नि की साक्षी में राम के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया है। मूल रामायण में विवाह समय ही सीता की उपस्थिति और जनमानस में हाथ में वरमाला लिये खड़ी सीता द्वारा शिवधनुष भंग होते ही राम के गले में माला डालना, इन दो बातों में कितना अंतर है और सत्य क्या है? अब तक पाठक समझ ही गए होंगे। मूल रामायण

के अनुसार वसिष्ठ के द्वारा अग्नि में समंत्रक हवन होने तक भूमिकन्या सीता को देखना तो दूर, वरपक्ष की तरफ का कोई भी व्यक्ति सीता के नाखून को भी नहीं देख पाया था।

वाल्मीकि ने संस्कृत भाषा में रामायण की रचना करने के बाद अन्य कवियों ने भी अध्यात्म रामायण और आनंद रामायण जैसे काव्यों की रचना की। मराठी के प्रख्यात कवि मोरोपंत ने 'आर्या रामायण' और संत एकनाथ ने 'भावार्थ रामायण' लिखा। सामान्य लोगों के सामने ये ही रचनाएँ थीं, जो रंजक होने के कारण लोकप्रिय हुईं और इन्होंने मूल रामायण को काफी पीछे छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रामायण या रामचरित्र को जो परिचय जन-जन को हुआ, वह मूल रामायण या तो है ही नहीं और है भी तो कहीं-कहीं पर संकेतमात्र में? आत्मकल्याण के लिए जिस रामायण का पाठ करना चाहिए, वह रामभक्तों के हाथों में दीखता ही नहीं है और जिससे पठन-पाठन से किसी तरह का विकास या कल्याण होने वाला नहीं है, वह रामचरित्र लोगों को कंठस्थ है। इसे दैवदुर्विपाक कहना ही ठीक होगा क्या? इसे रामभक्तों की उदासीनता कहा जाए या मूल रामायण के पश्चात् लिखे गए रामचरित्रों का परिणाम माना जाए? आप कुछ भी कहिए, भक्ति-संप्रदाय, जिसमें कृष्ण की तर्ज पर राम को प्रस्तुत किया गया है, वह रामरसिक संप्रदाय भी शामिल है, में इन रचनाओं में से भक्ति-प्रिय, भक्त-उद्धारक राम जैसे जनमानस में बिंबित हुआ, वैसे वाल्मीकि का तपस्वी, व्रताचरणप्रिय, निर्धारी, एकनिश्चयी, एकवचनी, एकपत्नी, एकवाणी पराक्रमी राम जनमन में बिंबित नहीं हो पाया, ऐसा बड़े दुःख के साथ कहना पड़ रहा है।

वाल्मीकि ने संकट, विपरीत और अप्रिय का बड़े धैर्य के साथ सामना करनेवाले राम के चरित्र को गुंफित किया है। अपार कष्ट झेलने वाला, पितृभक्त, विनम्र, दास्यवृत्ति भी स्वीकारने वाला भ्रातृप्रेम के लिए मानक, पत्नी प्रेम का प्रतीक अथवा संत-सज्जनों को पीड़ा पहुँचाने वालों का संहारक, दुर्दांत राम मूल रामायण में बहुत सशक्त कलम से चित्रित किया गया है। परंतु भक्ति का डंडा पीटनेवाले कवियों और संतों ने उस राम को भुला दिया और 'संकट मोचन' के रूप में उसे जनता-जनार्दन के मन पर विराजित किया और वह भी इस सीमा तक आँसू भरे भक्तिरस में आकंठ भिगोया हुआ कि सभी प्रतिकूलताओं पर मानकर सारे राक्षस कुल का रावण के साथ संहार करनेवाला पुरुषार्थी राम किसी को याद भी नहीं आए, खास कर युवा पीढ़ी तो उसे विस्मृत ही कर दे। राम के इस भारत में हिंदू-समाज रामभक्त तो हुआ, अनेक स्थानों पर सारे देश में उसने राम के मंदिर भी खड़े किए। इसी भारतभूमि पर रामभक्ति की एक स्वतंत्र परंपरा भी कायम हुई, परंतु सीमा पर पराक्रम कर महाबलाढ्य शत्रु को परास्त करने की परंपरा अपनी जड़ें स्थिर नहीं कर सकी। इस सत्य को हम नकार नहीं सकते।

आचार्य चाणक्य की यही व्यथा थी, समर्थ रामदास को यही चिंता सताती थी।

हिंदू-स्वराज्य स्थापन करने वाले 'गोब्राह्मण प्रतिपालक' छत्रपति शिवाजी के सामने यही प्रश्नचिह्न था। समाज को खोखली करनेवाली राष्ट्रव्यापी उदासीनता। राष्ट्रभक्ति के कट्टर समर्थक राष्ट्रपुरुष स्वातंत्र्य वीर तान्याराव सावरकर को यही चिंता खा गई। हिंदुओं की परंपरागत पराजित मनोवृत्ति!

विजय का क्षण हाथ से समय पड़ने पर खोकर शरणागत बनने की चिंता ने विवेकानंद को आजीवन सताया। जिस हिंदू-भूमि पर राम जन्म लेता है, जहाँ विश्व के आदिकाव्य रामायण की रचना होती है, जो राम क्षत्रियांतक परशुराम, देवताओं के लिए भी अपराजेय रावण, कुंभकर्ण आदि सारे ही राक्षसों को अपनी अतर्क्य सामर्थ्य से पराभूत उनके गर्व और प्राण दोनों का ही हरण करता है, उसी रामजन्म-भूमि पर विदेशी शक्तियाँ सुख-चैन से राज करें और यहाँ के (तथाकथित) क्षत्रियों को धूल-चटाकर देश निकाला दे दें, इसे क्या रामभक्ति की अति की परिणति माना जाए?

भारतभूमि-हिंदू भूमि पर मानव रूप में जन्म लेना भाग्य-सौभाग्य की बात तो है, पर यहाँ जन्म लेने वालों की जल्दी रहती है। राम के नाम स्मरण से आत्मोन्नति और मोक्ष की, देशोन्नति या राष्ट्र की उन्नति की नहीं, इस तथ्य को हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। अस्सी प्रतिशत से ज्यादा हिंदू विगत सदियों में परकीय, विदेशी, आक्रांताओं के सामने घुटने टेकते नजर आते हैं क्यों? भौतिक शास्त्र और विज्ञान की तरफ से उनका विमुख होना यह तो एक दिखावे का इतिहास है, परंतु यहाँ के लोगों को अपने प्रदेश की उन्नति की अपेक्षा नामस्मरण से पुण्यसंचय कर स्वयं का उत्कर्ष करना ही अधिक अभीप्सित रहा है। यही हिंदुस्तानियों की पराजय की परंपरा का मूलभूत कारण रहा है। समर्थ रामदास को क्षण भर के लिए छोड़िए, बाकी संतों ने क्या किया? सत्संगति, नाम स्मरण, ध्यान-धारणा से पुनर्जन्म चक्कर से कैसे बचें, कैसे मुक्त हों, यही तो सिखाया है। एकजुट होकर, साथ रहेंगे, साथ मरेंगे की भावना से, प्राणों की बाजी लगाकर हिंदुस्तान की भूमि को सुरक्षित-स्वतंत्र-सार्वभौम रखने का उपदेश किसी भी महात्मा या संत ने नहीं दिया। भक्ति क्यों और कैसे करें, कौन-कौन भक्त हुए, किनको परमपद मिला, उन्होंने यह दुश्कर भवसागर कैसे पार किया (क्योंकि उनकी नौका हमेशा मँझधार में ही रही, किनारा मिलता कैसे?) आदि के उपदेशों से ही सारा संत साहित्य भरा पड़ा है। इस उपदेश से जो बच गए, उन्होंने अपना सारा जीवन और प्रतिभा को इन संतों के चमत्कार और अद्‌भुत कथाओं के वर्णन करने में दाँव पर लगा दिया। परिणाम क्या होना था? परतंत्रता-गुलामी में जिस दुर्दांत पुरुषार्थ-पराक्रम का आविर्भाव होना चाहिए था, वह नहीं हुआ और भक्ति-भोगी भजन सम्राटों, दो जून की रोटी के लिए वैराग्य-धारण करनेवालों, मठों के महंतों और राम के नाम से गला फाड़-फाड़कर गाने-चिल्लाने वालों से भूमि का भार बढ़ता ही गया। विजिगीषु-पराक्रम करने की प्रवृत्ति के

स्थान पर विरागी, संन्यासी, निवृत्तिमार्गी और अल्पसंतोषी लोगों की इतनी फसल पैदा हुई कि वह देखकर किसी को लगे कि हिंदुस्तान में अखंड स्वतंत्रता और कभी न समाप्त होनेवाला सुवर्णयुग चल रहा है; परंतु वास्तविकता इससे ठीक विपरीत और दाहक थी। इस सारी दु:स्थिति का एक ही कारण है—हमने रामायण के राम के पुरुषार्थ को नहीं पहचाना, पुरुषार्थी राम को जानने की हमें कभी जरूरत भी महसूस नहीं हुई। इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या है ?

आज की युवा-पीढ़ी को चाहिए कि वह अपने पूर्वजों की आत्मोन्नति की गलतियों को नहीं दोहराए तथा राम के पुरुषार्थ, कर्तृत्व, पराक्रम को आदर्श मानते हुए सारे राष्ट्र को पुरुषार्थी, पराक्रमी, कर्तृत्ववान् बनाने में अग्रसर हो। इस दृष्टि से भर्तृहरि के भोजप्रबंध में दिए हुए एक श्लोक रामचरित्र का अनुसरण कर अपना आचरण सकारात्मक रखें, तभी हम अपनी मातृभूमि के वर्तमान उदासीन स्वरूप को बदल सकेंगे। भर्तृहरि ने लिखा है—लंका की विजय करनी थी, विशाल समुद्र को चलकर पार करना था, (महाबलवान्) रावण शत्रु था, युद्धभूमि पर सहायता करनेवाले बंदर थे, फिर भी अकेले राम ने समस्त राक्षस कुल का संहार किया, वास्तव में महान् व्यक्तियों की कार्य की सिद्धि उनके पराक्रम पर ही निर्भर रहती है, साधनों पर नहीं। यथा—भर्तृहरि का मूल श्लोक देखिए—

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि:।
विपक्ष: पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय:॥
तथाप्येको राम: सकलमवधीद्राक्षसकुलम्।
क्रियासिद्धि: सत्वे भवति महतां नोपकरणे॥

(भोज प्रबंध, १७०)

□

सीता का कन्यादान नहीं

राम के द्वारा शिवधनुष को भंग किए जाने पर 'मैं राम को सीता दे रहा हूँ' इस अर्थ से जल हाथ में लेकर मंत्रोच्चारपूर्वक पूजा की थाली में छोड़ दिया। तब देवता और ऋषिगण उत्तम, बहुत अच्छा कहने लगे। राम और सीता पर पुष्पवृष्टि हुई और देवताओं की दुंदुभि की घन-गंभीर ध्वनि होने लगी। इस संदर्भ में रामायण की मूल पंक्ति इस प्रकार है—

एवं दत्त्वा सीतां मंत्रोद्‍कपुरस्कृताम्।

बाई के निवासी पं. काशीनाथ शास्त्री लेलेजी ने अपने मराठी अनुवाद में इस पंक्ति का अर्थ समंत्रक व उदकपूर्वक सीता नामक कन्या का दान किया, ऐसा अनुवाद किया है। उपर्युक्त उद्धृत पंक्ति से पूर्व आई हुई—

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा पंक्ति का अर्थशास्त्रीजी ने 'कन्यादान के लिए समंत्रक जल छोड़ा' यही किया है।

धर्मशास्त्र की प्रक्रिया में दान देने से पूर्व दाता अपने दाहिने हाथ में जल लेकर उपाध्याय के हाथों या किसी जलपात्र में छोड़कर दान का संकल्प करता है, कभी प्रतिग्रहिता के हाथ पर जल छोड़ दिया जाता है, पर वह दान से पूर्व की है। रामायण में जनक ने सीता का दान किया, ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है या बालकांड के २७वें या २८वें से किसी भी श्लोक में कन्यादान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

सीता वास्तव में भूमिकन्या थी। हल जोतते हुए जनक को वह मिली। इसीलिए भूमिकन्या 'सीता' हुई। सीता का अर्थ जोती हुई भूमि, खेती का हिस्सा या हल का फाल है। खेत में मिलने से वह सीता हुई, जनक को मिलने से जानकी, मिथिला नगरी की मैथिली हुई। जनक ने उसे स्नेह से पाला-पोसा इसलिए जनक उसके पिता हुए। शिवधनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने में सफल होनेवाले वीर को ही सीता देने का निश्चय जनक

ने किया था, जो राम के द्वारा धनुर्भंग होने से पूरा हुआ। इसीलिए राम को सीता विवाह में देने के लिए जनक तैयार हुए।

जनक के मन में सीता का दान करने की कोई कल्पना ही नहीं है, उस संकल्प को कन्यादान विवाह से नवाजा गया है। उस काल में अपनी कन्या सम्मानपूर्वक किसी क्षत्रिय वीरवर को दी जाए, ऐसी सोच क्षत्रिय कुलों में होना स्वाभाविक था। किसी राजपुत्र को देते हुए अपनी पुत्री को सर्वालंकारों से विभूषित कर ही दिया जाता था। इसी से 'सालंकृत' शब्द का प्रयोग रूढ़ हुआ। संकल्प दैनिक पूजा में भी किया जाता है। हर विधि में संकल्प लेने की रीत है, इसलिए मंत्रोच्चार पूर्व जल छोड़ते हुए कन्या देने का संकल्प करना और उसे देना, यह तत्कालीन पद्धति के अनुरूप ही था, पर इन सारी प्रक्रियाओं से कन्यादान की संकल्पना का उदय कैसे हुआ, एक बहुत बड़ा आश्चर्य है। इस कन्यादान विधि से ही परवर्ती काल में अनेक अभिशप्त रूढ़ियाँ पैदा हुईं। नवयौवना-विवाहिता सम्माननीय होने के स्थान पर दानभोग्या होती गई, उसका सम्मान समाप्त हुआ।

अब कन्यादान सर्वमान्य रूढ़ि के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। दान की प्रक्रिया दक्षिणा के बिना पूरी नहीं होती, इसलिए कन्यादान के साथ वर दक्षिणा अपरिहार्य हो गई। इसी दक्षिणा ने कितनी युवतियों के शादी के पहले और बाद में प्राण हरण कर लिये। उस भयावह चित्र को आप आँखों के सामने लाइए। दक्षिणा को दहेज के रूप में वरपक्ष समृद्ध करता गया तथा कन्या के पिता से संपत्ति-द्रव्य अनंत काल तक खोंसते रहने की प्रवृत्ति बढ़ी। दहेज-विरोधी कानून को लोग धत्ता बताते रहे।

शास्त्र और रूढ़ि में रूढ़ि अधिक प्रभावी हो जाती है, पर उससे मानवीय जीवन को दूषित और ध्वस्त करना कहाँ की रीत है? यह कौन सा न्याय है? संस्कार होने चाहिए, मनुष्य का सुसंस्कृत और संस्कारित रहना चाहिए। पर संस्कार के सहारे यदि शैतानी प्रवृत्तियाँ समाज पर हावी हो जाती हैं तो उसके विनाश की शीघ्र होने वाली गति को कौन रोक सकता है?

रामायण में कन्यादान है ही नहीं। मैं अपनी भूमिकन्या सीता राम को देता हूँ। यह संकल्प हाथ में लिये जल को जनक के द्वारा छोड़े जाने का अर्थ इतना ही है कि उन्होंने अपने संकल्प को प्रतिज्ञा के रूप में बदल दिया। उपस्थित लोगों के सामने खाली घोषणा करना ही पर्याप्त नहीं होता है, जो कहा उसके लिए पंचमहाभूतों में से किसी एक को साक्षी बनाने की अर्थपूर्ण परंपरा है। कोई भी मांगलिक देवता और ब्राह्मण और अग्नि के सान्निध्य में, उपस्थित सभी व्यक्तियों की साक्षी में किया जाए, ऐसा पूर्वाचार्यों ने शास्त्र में क्यों संकेत किया है? प्राचीन काल 'विशेष-मित्रता' की शपथ भी अग्नि की साक्षी में ही लेने की प्रथा थी। राम ने सुग्रीव के साथ अग्नि की साक्षी में ही मित्रता की थी, ऐसा

उल्लेख रामायण में ही मिलता है।

सन् १८९८ में पं. काशीनाथ शास्त्री लेले ने रामायण का जो मराठी अनुवाद किया, उसे ही प्रामाणिक माना जाता है। पं. लेले शास्त्री हमारे लिए वंदनीय हैं। कन्यादान के संबंध में उनके मत की चर्चा में हमारी यह कतई इच्छा नहीं है कि उनकी गलतियों को दिखाया जाए। ऐसा हम स्वप्न में भी कभी नहीं सोच सकेंगे, न हमारा इरादा वैसा था।

कहा गया है—शास्त्रात रूढ़िर्बलीयसी—शास्त्र से व्यवहार, रूढ़ियाँ और रीतिरिवाज अधिक बलवान्-समर्थ होते हैं। इसी रूढ़ि ने सीता के कन्यादान को प्रचारित किया। वह रूढ़ हुआ, उसे गौरव प्राप्त हुआ—सालंकृत कन्यादान का। ग्राह्य-अग्राह्य के बीच का अंतर कालप्रवाह में कैसे धूमिल हो जाता है, यह कन्यादान की अघटित घटना से निनादित होता है।

□

कन्यादान की प्रतिष्ठा

निस्पृह, तपस्वी और महात्मा विश्वामित्र के मिथिला नगरी से हिमालय की ओर प्रस्थान करने पर महाराजा दशरथ भी अपने चार पुत्र-पुत्रवधुओं के साथ अयोध्या के लिए रवाना हुए। अपनी बेटियाँ सीता, उर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति अपने घर से पहली बार ससुराल के लिए प्रस्थान कर रही थीं, अत: उस समय जनक ने पितृस्नेह से विपुल कन्याधन दिया। विदेहाधिपति ने उनके साथ विपुल द्रव्य और हरेक को लाखों की संख्या में गौएँ दीं—

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः॥

अनेकानेक उत्तमोत्तम ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र और सामान्य वस्त्र लाखों-करोड़ों की संख्या में दिए। दिखने में उत्कृष्ट और अलंकृत हाथी, घोड़े, रथ और सैकड़ों पैदल सैनिक भी बेटियों के साथ कर दिए।

कुम्हलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलङ्कृतम्॥

चारों बेटियों में से प्रत्येक के साथ १००-१०० सहेलियों, उत्तम दास और दासियों तथा करोड़ों की संख्या में चाँदी, सुवर्ण, मोती और मूँगे दिए। इस प्रकार राजा जनक ने अत्यधिक संतुष्ट और भी उत्कृष्ट धन कन्याओं को देकर राजा दशरथ को विदा किया और बाद में मिथिलेश्वर अपनी नगरी में प्रविष्ट हुए। तब अयोध्यापति दशरथ ने भी अपने साथ लाए सैन्य तथा बहु-बेटों के साथ जनक से विदा लेकर अयोध्या के लिए प्रस्थान किया—

ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च॥

ददौ राजा सुसंतुष्टः कन्याधनमनुत्तमम्।
दत्त्वा बहुविधं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम्॥
प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः॥

(बालकांड, सर्ग ७४/३-७)

रामायण काल में विशेषतः सभी राजघरानों में समृद्ध वैभव की थाती थी। हरेक राजघराना और उनका कोष कमोवेश संपन्न, समृद्ध था। वाल्मीकि के काल में जब सामान्य नागरजन भी धन-धान्य समृद्ध थे तो दशरथ या जनक या उनका वंश सभी प्रकार के ऐश्वर्य और वैभव से समृद्ध होना कोई आश्चर्य नहीं था। भूमिकन्या सीता, उर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति जब पहली बार ससुराल के लिए रवाना हो रही थीं तब जनक को यह लगना स्वाभाविक ही था कि उन्हें क्या दें और क्या न दें! अपने सामने बड़ी हुईं, स्नेह से पाली-पोसी कन्याएँ जब घर-बार छोड़कर हमेशा के लिए ससुराल जाने लगती हैं तब संवेदनशील पिता का हृदय भर आता है, वाणी शिथिल हो जाती है, आँखों में आँसू तैरते हैं। उसे बताना शब्दों के वश की बात नहीं है, जिसने कन्या को भेजा है, वही जानता है—घायल की गति घायल जाने। महाकवि कालिदास जैसे समर्थ कवि की लेखनी भी 'यास्यत्यद्य शकुंतला पतिगृहं' कहते हुए कितनी अटक सी गई है। मुझ जैसों की क्या विसात!

धर्माचरणशील जनक जैसे पिता को सीता और उसकी बहनों को राम जैसे पराक्रमी, विनयी और सदाचरणशील युवक जीवनसाथी के रूप में मिलने से एक ओर तो अत्यधिक आनंद हुआ तो दूसरी ओर अपनी प्राणस्वरूप चारों ही बेटियाँ एक ही दिन अपने गोकुल को खाली कर रवाना होने वाली हैं, इसलिए उसके आँसू थम ही नहीं रहे थे। घर से निकलनेवाली लाडलियों को कितना भी दे दें, पिता को भला कैसे संतोष हो सकता है?

त्रेतायुग के जनक और कलियुग के दाजी पणशीकर की भावनाएँ अलग-अलग हो सकती हैं क्या? पृथ्वी पर जहाँ पर भी प्राणियों का निवास है या था, वहाँ आज भी भाव-भावना या वृत्ति-प्रवृत्तियों में किसी तरह का फर्क या भेद दिखाई नहीं देता है, देगा भी नहीं। क्योंकि वह त्रिकाल में अबाधित रहनेवाला सत्य है। इस सत्य का निश्चय से सामना कर जो व्यक्ति अपना कदम बढ़ा सकते हैं, उनमें से किसी-न-किसी को, कभी संभव हुआ तो, परम सत्य से साक्षात्कार हो सकता है। उस सत्य का दिव्य-दर्शन होने में जीवन की सार्थकता, सफलता होती है, परंतु वह दर्शन हो पाना भी उसका परम भाग्य होता है।

राजा दशरथ भी सम्राट्, अयोध्यापति थे। जनक की भी यही स्थिति थी। जनक यदि अपनी बेटियों को कुछ भी नहीं देता तो वे रास्ते पर नहीं आतीं, न ही उनके पतियों को भिक्षा माँगनी पड़ती। जनक अधिक ऐश्वर्यशाली था और दशरथ कम, ऐसी भी कोई बात नहीं थी। दशरथ ने वसिष्ठ-विश्वामित्र की साक्षी में जनक से बेटियों के हाथ अपने बेटों के लिए स्वीकार करते समय किसी प्रकार के कन्यादान की माँग सामने नहीं रखी थी। फिर भी मिथिलेश्वर जनक ने अपनी बेटियों को इतना विपुल-द्रव्य क्यों दिया ? या तो वे बेटियों पर संपत्ति लुटाना चाहते थे या दशरथ के या अन्य किसी के कहने से या अपने जामाताओं को प्रसन्न करने के लिए उसने ऐसा किया ? क्या उसे अपनी समृद्धि-संपत्ति के प्रदर्शन का चाव था या संपत्ति न देने से बेटियों को सुसराल में तकलीफ होगी, वे अपमानित होंगी, इसलिए जनक ने इतना द्रव्य और हीरे-मोती दिए ?

इनमें से एक भी आशंका सही नहीं !

महर्षि वाल्मीकि के काल में क्या राजा और क्या सामान्य जन आत्मिक-आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही दृष्टियों से संपन्न थे। धर्माचरण में रुचि होने के कारण उनके विचार प्रगल्भ थे, प्रौढ़ थे और दातृत्व-दानशीलता, नहीं दानवीरता, उस कात्व का स्थायीभाव था। केवल आनंद और संतोष पाने के लिए ही जनक ने ससुराल जा रही अपनी बेटियों पर अपनी संपत्ति लुटा दी थी।

न उसमें कोई दंभ या घमंड था। न प्रदर्शन की लालसा थी, न दिखावा था। मेरा निश्छल स्नेह और ममता तुम्हारे साथ रहेगी ही, उसका अनुभव इन भौतिक वस्तुओं में से भी तुम्हें होता रहेगा। ऐसा उदात्त और भावगर्भित संदेश ही मानो जनक अपनी बेटियों को देना चाह रहे थे।

हमारी परंपरा में कन्याधन किसी को प्रसन्न या संतुष्ट करने के लिए कभी भी नहीं माना गया। आज कन्यादान और कन्याधन कैसे कन्या विक्रय तक पहुँच गया है, इस पर अंतर्मुखी चिंतन किए जाने की बड़ी जरूरत है।

□

परशुराम से दहशत

राजा जनक ने बड़ी प्रतिष्ठा के साथ ससुराल जा रही अपने घर की चारों ही बेटियों को अपना भौतिक वैभव भेंट में दिया। अयोध्या से अपने साथ लाए आप्त-परिजनों और अपनी सेना के साथ दशरथ अयोध्या जाने के लिए रवाना हुए। इतने में ही चारों ओर से पक्षियों की भयंकर आवाजें सुनाई देने लगीं और पृथ्वी पर खड़े पशु राजा की दाहिनी ओर से जाने लगे। यह दृश्य देखकर दशरथ मन में घबरा गए। कुलगुरु वसिष्ठ से उन्होंने कहा—हृदय को कंपित कर देने वाला यह क्या माजरा है? मुझे तो कुछ भी नहीं सूझ रहा है।

तब वसिष्ठजी ने कहा—पक्षियों की अंतरिक्ष में होनेवाली ये आवाजें आने वाले घोर संकट का संकेत दे रही हैं, पर तुम्हारी दाहिनी ओर से जाने वाले ये पशु उस संकट के भय को शांत कर रहे हैं।

वैसे तो राजा दशरथ पराक्रमी सम्राट् के रूप मे विख्यात थे। कायर, डरपोक या रजांगण से भागने वाले भगोड़े के रूप में उसकी कोई अपकीर्ति अब तक नहीं हुई थी। कुलगुरु, पराक्रमी राम और धनुर्विद्या में प्रवीण लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न भी उनके साथ थे। तात्पर्य यह है कि मिथिला से निकलते वक्त वह अकेले तो नहीं थे। फिर भी पशु-पक्षियों के इस प्रकार के व्यवहार से वह भयग्रस्त क्यों हुए? भय या घबराहट को मन में ही न रखकर वह वसिष्ठ से क्यों पूछताछ करने लगे?

बहुत प्राचीन काल से मनुष्य सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति कभी छिपी नहीं रह पाई है। योगशास्त्र के प्रणेता पतंजलि के अनुसार जन्मत: ही सात प्रकार की प्रेरणाएँ काम करती रही हैं। उनमें एक भय की प्रवृत्ति अटल है। योगी, सत्पुरुष, निस्पृह ऐसे कुछ अपवादों को यदि छोड़ दें तो मनुष्य और अन्य प्राणी जन्मत: भयग्रस्त ही होते हैं। निर्भय होना अलग है और निर्भय हूँ, यह कहना अलग है। मानवमात्र को किसी-न-किसी का भय रहता ही है। निर्भय या भयमुक्त मनुष्य ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। भय की इन प्रवृत्तियों ने ही शकुन-अपशकुन की संकल्पना को जन्म दिया है। केवल कमजोर

ही शकुन-अपशकुन के कायल नहीं हुआ करते। अच्छे-अच्छे धीर-वीर कहलानेवाले धैर्यधरों के चेहरों पर भी प्रकृति-विरुद्ध वातावरण या चमत्कारिक घटनाओं से आने वाली भय की छटाएँ छिपाए नहीं छिपती हैं। अशुभ संकेत की अनेक घटनाएँ रामायण में मिलती हैं। हाथ में लिया हुआ कार्य या निकट-दूर की यात्रा सफल होगी या नहीं, इसके संकेत पहले ही मिला करते हैं, ऐसी बहुत लोगों की धारणाएँ होती हैं। हरेक की अपनी-अपनी समझ है, अपनी-अपनी श्रद्धा है। समाज सुधारकों में अग्रणी श्री गोपाल गणेश आगरकर या प्रखर बुद्धिवादी वीर सावरकर जैसे कम ही व्यक्ति अपवाद होते हैं बाकी शकुन-अपशकुन माननेवाले सामान्य लोग संसार भर में मिलते हैं। १३ का अंक अशुभ है या बिल्ली रास्ता काट दे तो अशुभ है, ऐसी मान्यताएँ पाश्चात्य राष्ट्रों में बहुधा देखी जाती हैं।

कुलगुरु वसिष्ठ की बात सुनकर दशरथ को थोड़ा ढाढ़स बँधा ही था, इतने में झँझावात शुरू हुआ, भयंकर हवाएँ चलने लगीं, बड़े-बड़े पेड़ उखड़कर गिरने लगे, सूरज ढक गया और अयोध्या जा रहे रघुवंश के यात्री दिशाएँ भूल गए। भयंकर वेग से चल रही तूफानी हवाओं से उड़नेवाली धूल से दशरथ की सेना आच्छादित हो बेहोश सी हो गई। उस तूफान और आँधी में महर्षि वसिष्ठ, अन्य मुनि, दशरथ तथा उसके चार सुपुत्र ही होश में दिखाई दे रहे थे।

कुछ ही क्षणों में क्षत्रिय-निहंता, दिखाई देने में भयानक, कैलास की तरह भव्य शरीरवाले, अत्यंत तेजस्वी, प्रलयकालीन अग्नि की तरह असह्य, तेज से मानो जलते हुए होने से सामान्य लोग जिसे देख न सकें ऐसे भार्गव पुत्र परशुराम को दशरथ ने देखा। उनके कंधे पर परशु था और विद्युलताओं के पुंज के समान अत्यंत तेजस्वी धनुष को हाथ में लिये परशुराम त्रिपुरांतक राम की तरह दिखाई दे रहे थे। मानो प्रज्वलित अग्नि ही हो, ऐसे उग्र स्वरूप परशुराम को देखकर वसिष्ठ आदि ब्राह्मण जप-जाप, होम-हवन आदि कार्यों में लग गए—

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलनामिव पावकम्।
वसिष्ठपुमुखा विप्राः जपहोमपरायणाः॥

(बालकांड, सर्ग ४/२३)

बाद में सभी ऋषियों और ब्राह्मणों ने पूजा-सामग्री लाकर उग्रस्वरूप परशुराम की पूजा की तथा मधुर वाणी में हे राम! हे राम! इस प्रकार से उन्हें संबोधित करने लगे। तब महापराक्रमी परशुराम ने पूजा स्वीकार की और दशरथी राम से वे बात करने लगे।

इसी बालकांड के प्रारंभ में ही आपको याद होगा, महर्षि वाल्मीकि ने अयोध्या आकर दशरथ से राम की माँग की थी। विश्वामित्र भी अत्यंत तेजस्वी तपोधन तथा युद्धकर्म में निपुण ऐसे 'शापादपि शरादपि' महर्षि थे। कुलगुरु वसिष्ठ की तपस्या, उनका ज्ञान अपना सानी नहीं रखता था। परंतु इनमें से अथवा अन्य किसी ऋषि से

दशरथ या अन्य कोई राजा भयभीत होने का उल्लेख कहीं दिखाई नहीं देता है।

परंतु तपस्वी परशुराम की पृष्ठभूमि इन ऋषियों की तरह सात्त्विक नहीं थी, उग्र और खून से सनी हुई थी। उनके सारे ही चरित्र को देखिए, क्षत्रियों के प्रतिशोध से वह व्याप्त है, विद्वेष की सुषुप्त अग्नि उसमें विद्यमान् रही है। भार्गवपुत्र राम का व्यक्तित्व 'क्षत्रियांतक' की मुद्रा से लांछित है। परशुराम जमदग्नि के पुत्र थे। स्वयं जमदग्नि प्रख्यात तपोमूर्ति थे, लेकिन उससे भी उनकी अधिक ख्याति क्रोधमूर्ति के रूप में थी, यही क्रोध उनकी दूसरी पीढ़ी के प्रतिनिधि परशुराम में होना कोई विशेष आश्चर्य नहीं है। पर दोनों के क्रोध में अंतर था, जमदग्नि जन्म से ही क्रोधी थे, वैसे परशुराम नहीं थे। वह तो तपोवन में प्रसन्न रहनेवाला, तपस्यानिष्ठ, ब्रह्मचारी, व्रताचरणी और माता-पिता का भक्त था।

एक बार सम्राट् सहस्रार्जुन ने बल प्रयोग कर ऋषि जमदग्नि की कामधेनु का अपहरण कर लिया। पितृभक्त परशुराम ने उस अपराधी-शासक को दंड देने के लिए अपने परशु से उसका वध कर दिया। पुत्र के इस आतंकी कार्य से जमदग्नि रुष्ट हुए और राजहत्या के प्रायश्चित् के लिए परशुराम को तपस्या करने के लिए घर से बाहर निकाल दिया। स्वयं जमदग्नि ने घोर तपस्या कर अपने क्रोध को समूल नष्ट कर दिया। वे अब शांत स्वभाव के हो गए, इतने कि क्रोध नाम का कोई विकार होता है यह भी वे भूल गए। जैसा पहले उनका क्रोध था, वैसे ही अब उन्होंने शांति धारण कर ली।

जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध कर दिया था। उसके पुत्र प्रतिशोध के इंतजार में ही थे। जमदग्नि का क्रोध समाप्त हुआ और अब वे शांत स्वभाव के हो गए हैं, यह खबर जैसे ही उन्हें मिली वे प्रतिशोध के लिए उतावले हो गए। परशुराम आश्रम में नहीं हैं, यह देखकर वे जमदग्नि के आश्रम में घुस गए और बड़ी क्रूरता से उनकी हत्या कर दी। प्रतिशोध पूरा हुआ।

यह अशुभ, अमंगल समाचार दसों दिशाओं में फैलते कोई समय नहीं लगा। परशुराम तक वार्त्ता पहुँच गई। माता ने एक ही आदेश उन्हें दिया 'कुरु निःक्षत्रियां महीम्'—सारी पृथ्वी को क्षत्रियविहीन कर दो। इस आदेश से क्षुब्ध हुए परशुराम ने विवेकहीन क्रूरता के साथ भूमंडल पर विद्यमान सारे क्षत्रिय-समाज की हत्या कर दी—एक के बाद एक! बाद में भले ही परशुराम को पश्चात्ताप हुआ और ऐसा लगने लगा कि उनका स्वभाव शांत हुआ है, पर अजेय होने के दर्प, अहंकार और क्षत्रियों के प्रति द्वेषभाव में कोई भी फर्क नहीं हुआ, वह जैसा का तैसा था। परशुराम की यह पृष्ठभूमि जानने पर हम सहज समझ सकते हैं कि उसने स्वयं ही अपने व्यक्तित्व को कैसे कलंकित कर क्षत्रियों में एक प्रकार की दहशत पैदा कर दी थी। परशुराम के तामसी और उग्र स्वभाव के कारण ही उसके आने पर प्रसन्न होने की बजाय दशरथ भय से व्याकुल हो गए।

□

अन्यमनस्क परशुराम

कुलगुरु वसिष्ठ और अन्य ऋषियों के द्वारा की गई पूजा स्वीकार कर परशुराम सीधे राम से ही संभाषण करने लगे। 'अतिथि देवो' मानकर वसिष्ठ आदि ऋषियों ने परशुराम की पूजा कर तो ली। पर उसे उस पूजा से कोई लेना-देना नहीं था, क्योंकि न तो परशुराम ऋषियों से मिलने आए थे, न ही पूजा स्वीकार करने में उनकी कोई रुचि थी। ऋषिगण उसकी पूजा करते या न भी करते, परशुराम को कोई अंतर नहीं पड़ता था। संतप्त, क्रोधित अवस्था में ही वह राम से मिलने के लिए आए थे। उस हालत में उन्होंने पूजा स्वीकार कर ली, यही खुशकिस्मती थी। उनका सारा ध्यान दशरथ के पास खड़े राम की ओर ही था।

राम जैसे किसी क्षत्रिय युवक द्वारा शिवधनुष को भंग कर विख्यात होने की घटना ही पशुराम के लिए अविश्वसनीय थी। मिथिला में शिवधनुष को भंग करने से सबकी जुबान पर राम का नाम था ही। परशुराम ने जब यह घटना सुनी तब उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा होगा, क्योंकि वे शिवधनुष की पूरी गाथा तो जानते ही थे, इतना ही नहीं, उस धनुष की अद्‌भुत सामर्थ्य से भी वे परिचित थे। किसी नए, युवावस्था में प्रवेश कर रहे और जिसकी कोई ख्याति न हो, ऐसे व्यक्ति द्वारा शिवधनुष को भंग किया गया है, इस सत्य को मानने के लिए परशुराम का अहंकारी मन तैयार नहीं था। शायद वे यह मान रहे हों कि शिवधनुष को स्पर्श करने या उसको भंग करने का अधिकार केवल उन्हीं को था। अन्यथा तपस्वी, धनुर्वेदाचार्य, अत्यंत तेजस्वी परशुराम को अपना आश्रम छोड़कर रास्ता बदलकर किसी (पराजित) नेता की तरह आकर राम से मिलने की क्या जरूरत थी ? वसिष्ठ आदि ऋषिगण और दशरथ की सर्वथा उपेक्षा करते हुए परशुराम सीधे राम के सम्मुख जाकर खड़े हुए और कहने लगे—

''हे राम ! हे दशरथे ! तुम्हारा पराक्रम अद्‌भुत है, ऐसा मेरे सुनने में आया है, तुमने धनुष को तोड़ दिया है आदि सब खबरें मैं जानता हूँ। तुमने शिवधनुष को जो तोड़ा है वह

कार्य अद्‌भुत और अतर्क्य है, इसीलिए मैं एक दूसरा धनुष लेकर आया हूँ। यह जामदग्न्य धनुष दिखाई देने में भयंकर है। तुम इस पर बाण चढ़ाकर अपना पराक्रम दिखाओ। इस धनुष पर बाण लगाने से (ही) तुम्हारी सामर्थ्य का मैं (प्रत्यक्ष) अवलोकन कर सकूँगा। उसके बाद मैं तुमसे द्वंद्वयुद्ध करूँगा, जिससे तुम्हारी प्रशंसा ही होगी।''

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेगऽद्‌भुतम्
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम्॥
तदद्‌भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा।
तत् श्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम्॥
तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्‌धनुः।
पूरयश्च शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च॥
तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोप्यस्य पूरणे।
द्वंद्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाध्यमहं तव॥

(बालकांड, सर्ग ७५/११-१४)

क्षत्रियांतक के रूप में प्रसिद्ध परशुराम की पहले ही सब तरफ दहशत फैली हुई थी। छोटे-मोटे राजा-महाराजा तो परशुराम का नाम सुनने से ही काँप उठते थे। क्योंकि उसका व्यक्तित्व उग्र और भय पैदा करनेवाला हो गया था, परंतु इस प्रकार से अचानक परशुराम सामने आकर खड़े होंगे, ऐसा कोई नहीं सोच सकता था, दशरथ भी नहीं। परंतु राम के द्वारा शिवधनुष को भंग किए जाने से उनकी कीर्ति दिगंत में व्याप्त हो गई, इसलिए उनका इम्तिहान लेने के लिए द्वंद्वयुद्ध की मुद्रा में परशुराम सीधे राम के सामने आकर खड़े हुए।''उसे इस अवस्था में देखकर दशरथ गलितगात्र हो गए थे। शरणागति स्वीकारते हुए दशरथ विश्वामित्र से विनती करने लगे।

राजा दशरथ दीन-हीन, दुःखी हुए। हाथ जोड़े परशुराम के सामने घिघियाने लगे— क्षत्रियों के लिए तुम्हारा क्रोध शांत हो गया, सब क्षत्रियों का विध्वंस हो गया है। आप महातपस्वी ब्राह्मण हैं और मेरे पुत्र अभी बालक हैं, इन्हें अभयदान दीजिए। भार्गव कुल में उत्पन्न आपने वेदाध्ययन किया है और इंद्र के समक्ष शस्त्र त्याग की प्रतिज्ञा भी आपने की है। इसीलिए तो आपने पृथ्वी कश्यप मुनि को दान में देकर महेंद्र पर्वत पर निवास किया।

क्षत्ररोषात्प्रशांतस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम्।
दत्वा वनमुपागम्य महेंद्रकृतकेतनः॥

(बालकांड, सर्ग १५/६-८)

परंतु इतना सबकुछ होने पर भी हे महामुने! मेरा सर्वस्व विनाश करने के लिए आप आए हैं। श्रीमान्, यदि आप अकेले राम का वध कर देंगे तो हमारे में से कोई भी जीवित नहीं रह पाएगा। दशरथ इस तरह से परशुराम को मनाने में लगे थे, पर परशुराम ने उनकी सारी याचना की उपेक्षा की और राम से ही वार्त्तालाप करने लगे—

मम सर्वविनाशाय संप्राप्तस्त्वं महामुने।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम्॥
ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान्।
अनादृत्य तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत॥

(बालकांड, सर्ग ७५/९-१०)

गुणवान्, पराक्रमी, माता और पिता के भक्त, दुर्दम्य, साहसी, अटूट, निष्ठावान्, धनुर्वेद के परम आचार्य, निस्पृह, निरपेक्ष, समस्त पृथ्वी का राज्य कश्यप को दान करने वाले परम उदार, तपस्वी इतने यशस्वी होने पर महापुरुष कभी-कभी विचित्र व्यवहार कर समाज के सामने कैसी भीषण समस्या पैदा करते हैं, इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रामायण में चित्रित परशुराम है।

कम-से-कम अपनी उम्र और तपस्या का तो राम को आह्वान देने से पहले विचार करते! राम अभी-अभी युवावस्था में आया था, विवाह की एक रात ही बीती थी। उसने स्वयं तो किसी को द्वंद्वयुद्ध के लिए नहीं ललकारा था। महर्षि विश्वामित्र के कहने पर उनके यज्ञ में बाधा उपस्थित करनेवाले राक्षसों का राम-लक्ष्मण ने वध किया था। जनक के पास रखे शिवधनुष को राम उठाने लगे तब वह टूट गया, इसमें राम का क्या दोष? परशुराम को अपमानित करने के लिए तो राम ने धनुष नहीं उठाया था। अपने कर्तृत्व से पराक्रम कर उसे यश मिला था, फिर भी कोई अहंकार की कोई बात उसके मुँह से नहीं निकली थी, न किसी को कमजोर समझकर युद्ध का कोई आह्वान ही किया था। राम का वह स्वभाव ही नहीं था। वह किसी राज्य के सिंहासन पर भी आसीन नहीं था। इतना सबकुछ होने पर परशुराम को दाशरथी राम से ईर्ष्या क्यों हुई? पूजा-सत्कार करनेवाले ऋषि-मुनियों या प्राणों की भीख माँगने वाले दशरथ की उपेक्षा करने की क्या जरूरत थी? छोटी सी उम्र में राम द्वारा दिखाए अद्भुत पराक्रम से परशुराम अन्यमनस्क क्यों हुए?

□
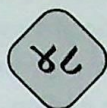
विनयशील राम

अपने पुत्रों के लिए अभयदान की याचना करनेवाले दशरथ की सर्वथा उपेक्षा कर परशुराम शिवधनुष और स्वयं के पास रखे विष्णुधनुष के बारे में राम से कहने लगे—

"विश्वकर्मा ने बहुत प्राचीन समय में दो विशाल धनुष बनाए—एक भगवान् शिवजी को दिया, दूसरा भगवान् विष्णु को। दोनों के पास धनुष देखकर देवतागण की यह जिज्ञासा बढ़ी कि आखिर इन दोनों में बलवान् कौन है ? ब्रह्मा ने विष्णु और शिव विरोध-वैर पैदा किया। परिणाम यह हुआ कि आखिर दोनों में प्रचंड युद्ध भी शुरू हो गया। इस युद्ध में विष्णु ने खाली हुंकार मात्र से रुद्रधनुष जर्जर कर दिया और महादेव को निरुपाय जड़ीभूत कर दिया। देवताओं ने युद्ध रोकने की विनती की तब विष्णु और शिव शांत, प्रकृतिस्थ हुए। भगवान् शिवजी ने वह जर्जर धनुष विदेह के राजर्षि देवरात को दिया और विष्णु ने स्वयं अपना वैष्णव धनुष महातेजस्वी ऋचीक को दिया। ऋचीक ने वह धनुष अपने अजातशत्रु पुत्र जमदग्नि को दिया। निर्वैर जमदग्नि, मेरे पिता की हैहयवंश के कार्तवीर्य ने हत्या की। तब क्रोधित होकर क्षत्रियों का मैंने बार-बार वध किया। संपूर्ण पृथ्वी अपने अधीन कर मैंने कश्यप को दान में दे दी। उसके बाद से महेंद्र पर्वत ही मेरा निवास स्थान है। तुमने रुद्रधनुष को भंग किया, यह सुनते ही तुरंत तुम्हारे पास आया हूँ—

दत्त्वा महेंद्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः॥

शिव और विष्णु के धनुष की कथा के बहाने परशुराम राम को यह बतला देना चाहते हैं कि अगर उसने शिवधनुष भंग कर दिया है तो उसमें कौन सी खास बात है ? वह तो पहले से ही जर्जर, टूटा सा था। परशुराम सोचते थे कि शिवधनुष को भंग कर देने से भले ही राम की कीर्ति दिगंत में फैली हो, उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उस

धनुष को ५,००० सेवक आठ चक्कों की गाड़ी पर लादकर जैसे-तैसे राम के समक्ष लाए थे। इसी से भले ही वह जर्जर हुआ हो, लेकिन कितना विशाल और वजनी होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। महादेव ने जब से देवरात के पास रखा था तब से कोई भी देव, गधंर्व, यक्ष या राक्षस उसे उठा तक नहीं पाया था। इसे देखते हुए परशुराम का यह मानना कि उसमें राम की कोई विशेष सामर्थ्य नहीं है। युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

राम उस धनुष को उठाकर प्रत्यंचा चढ़ाकर ही देखना चाहते थे। जिसे अब तक कोई उठा या हिला भी नहीं पाया, वह धनुष राम ने बड़ी सहजता से उठा लिया। इसमें कोई शरीर-सामर्थ्य नहीं चाहिए था? शिवधनुष भले ही जर्जर हुआ, उसका वजन तो वैसा-का-वैसा ही था। यदि वह न टूटता तो राम उस धनुष पर बाण भी चढ़ा देते। किसी नवयुवक द्वारा इतना बड़ा पराक्रम करने पर परशुराम उसका अभिनंदन करते। पर परशुराम शायद इतने उदारमना नहीं थे। यदि उदार होते तो भागा-दौड़ी करके न वे महेंद्र पर्वत से आते और न ही राम को द्वंद्वयुद्ध के लिए ललकारते।

पितृपरंपरा से धनुष की महिमा गाकर परशुराम ने राम को ललकारा—हे राम! यह प्रचंड वैष्णव धनुष मुझे पितृपरंपरा में मिला है। क्षत्रिय धर्म का स्मरण करो और इसे ले लो। इस धनुष पर शत्रु समूहों का विनाश करनेवाले बाण को यदि तुम चढ़ा सकोगे, तो हे काकुत्स्थ पुरुष, मैं तुम्हारे साथ द्वंद्वयुद्ध करूँगा—

तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत्।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम्॥
योजयस्व धनुः श्रेष्ठे शरं परपुरंजयम्।
यदि शक्तोसि काकुत्स्थ! द्वंद्वं दास्यामि मे ततः॥

(सर्ग ७५/२८-२९)

परशुराम तपस्वी होते हुए भी राम को किस तरह सामान्य प्राणी सिद्ध करना चाहते हैं, यह आपके ध्यान में आ रहा होगा। राम उनके सामने पड़ते ही कह दिया—वह तो टूटा हुआ या जर्जर धनुष था। फिर अपनी पैतृक परंपरा का बखान करते हुए वैष्णव धनुष की प्रशंसा करने लगे। इतना सबकुछ होने पर भी उनको संतोष नहीं हुआ, इसलिए तुरंत राम को क्षात्रधर्म का, क्षत्रिय के कर्तव्य का स्मरण भी कराया। शायद वे पहले से ही यह मान रहे हैं कि राम स्वत्व—क्षत्रिय धर्म को भूल गया है या भूल सकता है और मान लो राम वैष्णव धनुष पर बाण चढ़ाता ही है, तो परशुराम द्वंद्वयुद्ध के लिए तैयार थे ही। फिर इतना सबकुछ कहने की कहाँ जरूरत थी? वे संसार भर को यह दिखाना चाहते थे कि इस नवयुवक क्षत्रिय की कीर्ति झूठी या मायावी है और अभी तक परशुराम अजेय हैं, अजेय ही रहेंगे।

परशुराम का यों अचानक आना और उसके बाद का व्यवहार अशोभनीय ही है, उनके व्यक्तित्व को कलंकित करनेवाला है। वास्तव में अपनी तपोभूमि महेंद्र पर्वत छोड़कर मिथिला तक आने की उन्हें कोई जरूरत ही नहीं थी। यदि आना ही था, तो उदार मन से राम की पीठ थपथपाते, आकर उसका अभिनंदन करते, पर ऐसा नहीं हो पाया। अपनी महत्ता, अधिकार और तपस्या को भूलकर परशुराम आए भी तो द्वंद्वयुद्ध का आह्वान देने के लिए। अन्य कोई भी योद्धा होता तो इस स्तर तक नहीं गिरता। इतने बड़े व्यक्तियों की ऐसी कमजोर हालत क्यों हों जाया करती है। इसका उत्तर यह है—प्राय: समापन्न विपत्तिकाले। आपत्तियाँ आनेवाली हों तो धीर-वीर पुरुष की बुद्धि भी काम नहीं करती है, बिना धार की तलवार की तरह।

परशुराम का उद्दंड व्यवहार और बोलना राम आपत्तियुक्त दृष्टि से देख रहे थे, सुन रहे थे। पर वह स्वभाव से कम बोलनेवाला, निश्चयी था। द्वंद्वयुद्ध का आह्वान सुनकर उसे आश्चर्य भी हुआ होगा। परशुराम द्वारा क्षात्रधर्म का स्मरण कराना उसे कतई अच्छा नहीं लगा, बल्कि अपमानजनक ही लगा होगा। परंतु स्थायीभाव राम की मर्यादा-सीमा थी। बड़े लोग यदि अपना बड़प्पन भूल जाएँ तो युवाओं को उद्यत नहीं होना चाहिए, यह उनका अभिमत था। परशुराम की सारी वाचालता सुनकर, पिता दशरथ पास में खड़े थे, इसलिए दाशरथी राम अत्यंत विनय से परशुराम से कहने लगे—हे भार्गव! हे ब्राह्मण! शिवधनुष के भंग करने की कथा आपने सुनी होगी और पिता के ऋण से मुक्त होने के लिए आपने जो कुछ भी किया वह भी हमें स्वीकार है, परंतु क्षात्रधर्म-संपन्न मेरा पराक्रमहीन कमजोर व्यक्ति की तरह आप जो अपमान कर रहे हैं, यह हमें अच्छा नहीं लग रहा है, इसलिए आज मेरे तेज और पराक्रम को आप देख ही लें—

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षात्रधर्मेण भार्गव!
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम्॥

परशुराम ने राम को अकारण ही छेड़ा था, उसके क्षत्रियत्व को ललकारा था और द्वंद्वयुद्ध का आह्वान दिया था, उसी से अपमानित होकर राम संतप्त हुए, इसलिए परशुराम को 'जैसे को तैसा' की भाषा में उसने जवाब दिया। पर दशरथ पास में खड़े थे, अत: अपने क्रोध या संताप को वाणी या हाव-भाव द्वारा प्रकट नहीं होने दिया। वरन् अपनी शालीनता को बरकरार रखते हुए यथायोग्य उत्तर भी दिया। यही रामायण का अपरिचित राम है। □

सौजन्य सुंदर राम

'आप आज मेरा तेज और पराक्रम देख लें', यह परशुराम से कहते हुए राम ने वैष्णव धनुष और बाण को ले लिया तथा प्रत्यंचा चढ़ाकर उसने बाण भी चढ़ा दिया। तब क्रुद्ध होकर राम ने परशुराम से कहा—आप ब्राह्मण हैं, इसलिए पूजनीय हैं तथा विश्वामित्र की बहन के पौत्र हैं, इसलिए आप पर यह प्राणघातक बाण छोड़ नहीं सकूँगा। अत: या तो आप की गति को अवरुद्ध किया जाए या आपके द्वारा बनाए गए लोक विनष्ट किए जाएँ, क्योंकि अपनी सामर्थ्य से शत्रुसमूहों और उनके गर्व को नष्ट करनेवाला यह वैष्णव बाण व्यर्थ तो नहीं किया जा सकता—

आरोप्य स धनूः राम शरं सज्यं चकार ह।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम्॥
ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्मात् शक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥
इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्।
लोकान्प्रतिमान्वापि हनिष्यामीति मे मतिः॥
नह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरञ्जयः।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः॥

(सर्ग ७६/५-८)

राम की यह उग्र प्रतिक्रिया परशुराम को कतई अपेक्षित नहीं थी, क्योंकि परशुराम को देखने मात्र से ही दशरथ और वसिष्ठादि ऋषि गलितगात्र हो गए थे और उसी से परशुराम के अहंकारी स्वभाव की संतुष्टि हुई थी। उसी तरह राम भी हमें देख और आह्वान सुनकर अपने प्राणों की भीख माँग लेगा, ऐसा विश्वामित्र को प्रतीत होना स्वाभाविक था, पर वास्तव में जो कुछ हो रहा था, उससे परशुराम के अहंकार को ठेस पहुँची। परशुराम

के बड़प्पन और दशरथ के सामीप्य का ध्यान रखते हुए भी राम ने अपना असली रूप दिखा दिया। राम के क्षत्रियत्व को ललकारने से हीं राम क्रोधित हुए और सारा तेज आँखों से दिखाई देने लगा। उनकी वाणी ओजस्वी हो गई, मानो एक दृष्टिक्षेप में ही राम ने परशुराम के समूचे अस्तित्व को आह्वान दे दिया था। वे तो राम से द्वंद्वयुद्ध करना चाहते थे, पर राम का यह उग्र स्वरूप देखकर उनकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। राम के रुद्रावतार के सामने क्षण भर में ही परशुराम स्तब्ध हो गए। कोई और होता तो राम उसे क्षमा नहीं करते।

परशुराम पैतृक परंपरा से तपस्वी ब्राह्मण थे। अस्त्र विद्या सिखाने वाले महर्षि विश्वामित्र रामगुरु वंदनीय थे। अपने गुरु विश्वामित्र और परशुराम का रिश्ता ध्यान में रखते हुए ही क्षमा कर परशुराम को राम ने जीवनदान दे दिया था। सारी त्रिलोकी परशुराम से दहशत खाई हुई थी। ऐसे व्यक्ति पर दाशरथी राम जैसा क्षत्रिय नवयुवक प्रचंड वैष्णव धनुष से शरसंधान करने की हिम्मत रखता है, यह बात भी उस समय में अनकथनीय और तर्क से परे थी। ऐसा कुछ हो सकेगा इस पर पृथ्वी पर रहनेवाले कोई मानव तो क्या, कोई देव-गंधर्व भी विश्वास नहीं कर सकता था। और इसीलिए श्रेष्ठ वैष्णव धनुष धारण किए हुए राम को देखने के लिए ऋषिगणों के सारे देवता वहाँ पर आ गए। वह अद्‌भुत प्रसंग देखने के लिए यक्ष, गंधर्व, अप्सरा, राक्षस और नागों की भी वहाँ भीड़ लग गई—

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः॥

परशुराम अपने अहंकारी स्वभाव के कारण राम को छेड़कर सभी देवताओं और ऋषिगणों के सम्मुख मजाक बन गए। क्रोधित राम की आँखों में इतना दुर्धर्ष तेज था कि परशुराम उसकी ओर आँख उठाकर देखने का साहस भी नहीं कर पाए। राम के क्षत्रियत्व को ललकारने से परशुराम की जो हालत पतली हो गई, उसका वर्णन वाल्मीकि ने किया है। श्रेष्ठ धनुष धारण करनेवाले दाशरथी राम में परशुराम का समस्त तेज प्रविष्ट हो गया, उससे परशुराम जड़ीभूत होकर निर्वीर्य हो गए। वे अब राम को केवल देखते रह गए। अपना सारा तेज राम में विलीन हो जाने से निर्वीय और स्तब्ध हुए परशुराम बहुत धीर कमलनयन राम को कहने लगे—

जडीकृते तदालोके रामे वरधनुर्धरे।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत॥
तेजो भिर्गतवीर्यत्वात् जामदग्न्यो जड़ीकृतः।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दमन्दमुवा च ह॥

क्रोधित राम ने अपने तेज से तपस्वी पर अहंकारी परशुराम को निस्तेज कर दिया। राम में परशुराम का तेज प्रविष्ट हो गया। इसका अर्थ है राम ने भार्गवपुत्र के सारे तेज को खींच लिया। अब परशुराम की दृष्टि में वह करारापन नहीं रहा। आवाज मंद-हलकी पड़ गई और उन्मत्त आँखों से शरणागति का भाव टपकने लगा। वे राम से अर्ज करने लगे—मैंने जब से कश्यप को पृथ्वी दान में दी है तब से 'मेरे प्रदेश में आप नहीं रहेंगे' ऐसा कहा है। तब से हे काकुत्स्थ राम! गुरु की आज्ञा पालन करते हुए मैं पृथ्वी पर निवास नहीं करता हूँ, इसलिए (कृपया) तुम मेरी गति को विनष्ट मत करो, ताकि हे राघव! मैं मन के वेग की तरह शीघ्र महेंद्र पर्वत पर चला जाऊँगा। मैंने कठोर तपस्या से ये अप्रतिम लोक संपादित किए हुए हैं। इन्हें तुम इस बाण से नष्ट करने में अब देर मत करो—

तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव!
मनोजवं गमिष्यामि महेंद्रं पर्वतोत्तमम्॥

(सर्ग ७६/१५-१६)

क्रोधित राम के समक्ष जड़, निश्चेतन से हुए परशुराम की भाषा का डौल ही बदल गया। राम ने पहले ही 'वध नहीं करूँगा' यह वचन दे रखा था, फिर भी राम के सामने से छुटकारा पाना भी परशुराम की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण था। यदि राम परशुराम की गति को अवरुद्ध, कुंठित करते, वह बड़ी बुरी हालत में फँस जाते। इसीलिए राम ने बड़ी उदारता से परशुराम से पूछा था—'इस बाण से क्या किया जाए, इसका निश्चय करिए।' राम उस क्षण कुछ भी कर सकते थे पर विवेक न खोकर वह परशुराम से सौजन्यपूर्ण व्यवहार करते हैं, यह राम का बड़प्पन है, उनकी उदारता की पराकाष्ठा है, यही राम का मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व है। यदि चाहते तो राम भार्गवपुत्र की निंदा कर सकते थे या वसिष्ठ और दशरथ के सामने उन्हें अपमानित, लज्जित भी कर सकते थे। यह सब करने का अवसर होते हुए भी राम के मन की उदारता छिपी नहीं रह सकी। राम ने परशुराम को कैसे पराजित-पराभूत किया यह चर्चा यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है राम का सौजन्य, शालीनता और मर्यादा। हम यदि अपने कान और आँखें खुली रखें तब भी अहंमन्य, घमंडी और उद्दाम होते जा रहे परशुराम के उत्तराधिकारी हर गली-मोहल्ले में दिखाई देंगे, परंतु बिना सुकृत-सत्कर्मों के, पुण्य के, सौजन्य के सुंदर श्रीराम नहीं दिखेंगे। इसलिए विनम्र भाव से हमें महर्षि वाल्मीकि की शरण में जाना चाहिए, जिनकी दिव्य प्रतिभा के कारण ही संसारमात्र को राम के स्वरूप का अलौकिक दर्शन हुआ। उनके चिर-ऋण से कौन और कैसे उऋण हो सकेगा?

□

रामचरित्र की नांदी

"मेरे द्वारा संपादित किए अप्रतिम (ये) लोक तुम अपने बाण से नष्ट करो", ऐसा निवेदन करते हुए परशुराम मुक्तकंठ से राम की स्तुति करने लगे—मेरा वैष्णव धनुष तुमने ले लिया (तुम ले सके), मैं तुम्हें देवताओं में श्रेष्ठ, अक्षय, विष्णु के रूप में देख रहा हूँ। ये सारे देवगण यहाँ पर आए हैं और युद्धभूमि में कोई मुकाबला नहीं कर सकता, ऐसे अप्रतिम योद्धा तुम्हें देख रहे हैं। हे काकुत्स्थ राम, त्रैलोक्याधिपति! तुम्हारे द्वारा पराजित होने में मुझे किसी प्रकार की लज्जा है। हे सदाचरणशील राम! तुम अब उस (अप्रतिम) बाण का संधान करो। उसके छूटते ही मैं (तत्काल) महेंद्र पर्वत पर चला जाऊँगा। (सर्ग ७६/१७-२०)

राम ने जैसे ही अपना सत्य रूप प्रकट किया, परशुराम को राम का विष्णुरूप दिखाई देने लगा। और उसी क्षण, राम के विष्णुरूप का दर्शन होते ही परशुराम को मानो परमात्मा के दर्शन हो गए। परशुराम का तेज हरण कर उसे जड़ीभूत बनाना तो मात्र तात्कालिक परिणाम था। राम में निहित सर्वव्यापी तेज का वह एक अटल परिणाम था। रामदर्शन से परशुराम का निस्तेज होना पूर्वार्ध था, उत्तरार्ध अधिक महत्त्वपूर्ण था।

परशुराम का वध करना या उन्हें विकल बनाना राम के मन में कभी नहीं था। यदि ऐसा होता राम 'ब्राह्मणोऽपि' वगैरह प्रारंभ में ही नहीं कहता। परशुराम की तपस्या और ब्राह्मणत्व दोनों के लिए मन में पूरा आदरभाव होते हुए भी उनके अहंकारयुक्त प्रताप के लिए दंडित किया जाना चाहिए, यही राम की सोच थी। इसी राम ने ताडका को मृत्युदंड दिया था और यज्ञ विध्वंसक खर-दूषण आदि राक्षसों का वध किया, परंतु अहल्या को नवजीवन का अमृत पिलाया। ऐसे वज्र से भी कठोर और करुणा से भी कोमल राम के समक्ष परशुराम जैसा साक्षात् प्रमाद उपस्थित हो जाता है तो व्यवहार में परिवर्तन करने की राम की क्षमता को आप आँक सकते हैं। भले ही लौकिक अर्थ में राम ने परशुराम को दंडित किया हो, पर इस प्रसंग

में परशुराम का कायाकल्प हो गया। पहले वाले परशुराम अब नहीं रहे।

राम का सत्य दर्शन होते ही मनसा, वाचा, कायेन बदले हुए परशुराम राम का स्तुतिगान करने लगे। इस स्तुति में कहीं पर याचना नहीं है, आकांक्षा है राम के गुणों का वर्णन करने की। देव-गंधर्वों के समक्ष राम से पराभूत होने पर भी उन्हीं दर्शकों के सामने अभिमान के साथ राम की यशोगाथा गा रहे हैं। एक शक्तिशाली पुरुष को राम ने देखते-देखते भक्तिपुरुष बना दिया। स्तुति करते हुए परशुराम के द्वारा राम के लिए प्रयोग में लिए गए विशेषणों को आप देखिए—अक्षय, सुरश्रेष्ठ विष्णु, शत्रुतापन, अप्रतिद्वंद्वी, अप्रतिमकर्माणं। इनसे राम के जिस दिव्यत्व-भव्यत्व के दर्शन परशुराम को हुए होंगे, उसका हम केवल अनुमान कर सकते हैं। ये विशेषण केवल मुँह देखी प्रशंसा नहीं हैं, उसमें परशुराम के प्रांजल भाव प्रकट हो रहे हैं।

परशुराम की विनती के अनुसार धनुष पर सज्ज किए बाण को जैसे ही राम ने छोड़ा, तपस्या से संपादित किए हुए 'लोक' नष्ट हुए, यह देखकर परशुराम महेंद्र पर्वत के लिए चल दिए। परशुराम के क्रोधित और संतप्त होने पर अँधेरे में छिपी हुई दिशाएँ और उपदिशाएँ अब उसके शांत, स्वस्थ चित्त होने पर प्रकाशमान हुईं। सभी ऋषियों और देवताओं ने राम की प्रशंसा की। दाशरथी राम ने परशुराम की पूजा की। तब समर्थ परशुराम भी राम की प्रदक्षिणा कर अपने निवास स्थान चले गए—

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः॥

राम और परशुराम की अकस्मात् हुई भेंट और यह घटना वैसे स्वल्प-विवरणवाली है, पर आशय या अर्थ की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस एक ही छोटी सी घटना में रामचरित्र का सूत्रपात हुआ है, ऐसा पाठकों को प्रतीत होगा। राम का उदारमना चरित्र इस कथा के हर शब्द से झाँक रहा है। राम की युवावस्था, अपने सामर्थ्य की उसे हुई अनुभूति, पूर्वकल्पत्र भी न होते हुए उसे मिला कल्पनातीत यश, कम उम्र में ही उसके हाथ से हुईं अकल्पित और अतर्क्य घटनाएँ, दिग्दिगंत में व्याप्त उसके नाम का डंका और इस पृष्ठभूमि में हुई परशुराम की पराजय, इनसे किसी भी नवयुवक का विवेक क्षण भर के लिए क्षीण हो जाए तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। पर राम की महत्ता कुछ अलग प्रकार की ही थी। तपस्वी परशुराम महेंद्र पर्वत पर निकल रहे थे तो राम ने बड़े सम्मान के साथ उनकी पूजा की। राम शिष्टाचार कभी नहीं भूलते हैं—वह उनका सहज स्वभाव है। वाल्मीकि की दृष्टि में यही उदात्तधर्मा राम हैं। राम के इस स्वरूप के चित्रण के लिए उनकी प्रतिभा स्फुरित हुई, वाणी मुखरित हुई, यह समझने पर रामायण के राम का दर्शन हमें हो सकेगा।

परशुराम को राम ने निर्वीर्य किया, यह घटना ही वास्तव में रामचरित्र की नांदी मानने जैसी है। तब तक परशुराम अजेय, प्रलंयकर और क्षत्रियांतक योद्धा के रूप में प्रसिद्ध थे। ऐन युवावस्था में राम ने बिना युद्ध किए ही परशुराम का नशा उतारकर उन्हें पराजित कर देने से सभी को यह विश्वास हो गया कि लंकेश्वर रावण को यदि कोई पराजित कर सकता है तो यही दाशरथी राम है। तत्कालीन वर्तमान इस घटना से आश्चर्य मुग्ध ही नहीं हुआ, आश्वस्त और निर्भय भी हुआ।

परशुराम के बाद कौन? इस प्रश्न का उत्तर अब मिल गया था। शिवधनुष भंग करने से ही राम की कीर्ति चारों ओर फैल गई थी। उसके तत्काल बाद परशुराम विजय से राम का यश त्रिलोकी में व्याप्त हो गया। रावण जैसे भयंकर राक्षस के अत्याचारों से छुटकारा पाने की जन-सामान्य की आकांक्षा बलवती होने लगी। जैसा परशुराम ने कहा था—रणांगण में राम के सामने कोई भी पराक्रमी योद्धा खड़ा नहीं रह पाएगा। इसकी प्रतीति राम ने ऐन तरुणाई में ही करा दी। राम के भविष्यकालीन जीवन की सारी छटाएँ जानकार व्यक्तियों को यदि परशुराम-विजय में दिखाई दें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

इतना अलौकिकता भरा चरित्र होने पर भी, इसके बाद राम की असल महत्ता का अनुभव आपको होगा। परशुराम जब तक सामने था तब तक वसिष्ठ और दशरथ भयग्रस्त और चिंतातुर थे। राम ने वैष्णव धनुष वरुण को सुपुर्द किया। वसिष्ठादि को प्रणाम किया और अपने पिता से निवेदन किया—जामदग्न्य राम चले गए हैं। आपके द्वारा रक्षण की गई इस चतुरंगिणी सेना को अब अयोध्या की ओर प्रस्थान करने दीजिए—

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरंगिनी।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता॥

अलौकिक पराक्रम दिखाकर भी उसके संबंध में एक शब्द का भी उच्चारण न करते हुए अपने पिता को इतना ही कहना—जामदग्न्य राम चले गए हैं, राम की असीम महत्ता को दरशाता है। अपने कर्तृत्व के बारे में किंचित् भी गर्व या अभिमान न दरशाकर मानो कुछ हुआ ही नहीं है, ऐसी विनम्रता से 'परशुराम गए, अब अयोध्या चले' निवेदन करने में ही राम की गरिमा, महत्ता अभिव्यक्त होती है। ऐसे व्यवहार के लिए स्वभाव में ही विनय और नम्रता तथा अपने कर्तृत्व का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करने की प्रवृत्ति न होने का गुण चाहिए, विवेक चाहिए। कर्तृत्व, विवेक और विनय का त्रिवेणी संगम राम में था, इसीलिए उसकी लोकप्रियता की सीमाएँ असीम होती चली गईं।

□

बालकांड का उपसंहार

अपनी चतुरंगिणी सेना, कुलगुरु वसिष्ठ, ऋषिमंडल तथा चारों ही पुत्रों समेत दशरथ अयोध्या पहुँच गए। परिजनों ने नगर के मार्गों पर जल का छिड़काव किया और स्वागत के लिए पुष्प बिखेर दिए। मंगलवाद्यों के निनाद से सारी अयोध्या नगरी मानो अपना आनंद प्रकट करने लगी। सीता, उर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति—चारों बहुओं के स्वागत और उनकी व्यवस्था में कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और अन्य रानियाँ व्यस्त हो गईं। नई बहुओं को नवीन वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर उनसे कुलदेवता की पूजा करवाई। नववधुओं के द्वारा घर के बड़े-बूढ़ों को चरण-स्पर्श कर आशीर्वाद लिये। तब दशरथ ने चारों राजपुत्रों के सपत्नीक आवास के लिए अलग-अलग राजप्रासाद निश्चित किए। चारों ही दंपती इन प्रासादों में आराम से रहने लगे।

केकय राज्य का राजपुत्र युधाजित् भी उस समय अयोध्या आया हुआ था। कैकेयी का यह भाई और भरत का मामा भरत को ननिहाल ले जाने के लिए आया था। दशरथ की आज्ञा प्राप्त कर और राजपरिवार के सदस्यों से विदा लेकर भरत-शत्रुघ्न मामा के साथ अपने ननिहाल चले गए। राम-लक्ष्मण अपने माता-पिता के सेवा कार्य में लग गए। राम ने अपने विनयी स्वभाव से गुरुजनों और परिजनों का मन जीत लिया।

बालकांड इस बिंदु पर समाप्त होता है। रामजन्म का पूर्ववृत्तांत, राम का जन्म, उनका बचपन, विश्वामित्र के साथ यज्ञ-रक्षा के लिए लक्ष्मण के साथ अयोध्या से बाहर जाना, विश्वामित्र से अस्त्रविद्या की प्राप्ति, ताडका और खर-दूषण इत्यादि राक्षसों का संहार, अहल्या का उद्धार, शिवधनुष का भंग, भूमिकन्या सीता से विवाह, परशुराम की पराजय और राम का अपने भाइयों के साथ सपत्नीक अयोध्या-आगमन इतने विषय रामायण के बालकांड में समाहित किए गए हैं।

बालकांड रामायण की नींव है। राम का जन्म किस उद्देश्य से हुआ; इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। भगवान् विष्णु ने स्वयं राम के रूप में अवतार लेकर ईश्वरीय कार्य

प्रारंभ किया। इस महान् कार्य में देवताओं और यक्ष-गंधर्वों ने पृथ्वी पर जन्म लेकर राम की सहायता की, उन्हें अपना जीवन समर्पित किया। बालकांड में राम का बंदरों से कोई संपर्क नहीं हुआ है। रामजन्म की पार्श्वभूमि भले ही अलौकिक रही हो, राम का मनुष्यत्व मृत्युलोक का ही रहा, यह वैशिष्ट्य है।

सर्वसामान्य युवकों की अपेक्षा राम की सामर्थ्य अद्भुत और तर्क से परे है, ऐसी प्रतीति हमें होती है, जिस उम्र में राम ने ताडकादि राक्षसों का वध किया, उस उम्र के तो क्या उससे भी अधिक उम्र वाले क्षत्रिय वीर वह कार्य नहीं कर पाए थे। ताडका वध राम के हाथ से हुआ प्रथम अद्भुत, आश्चर्यकारक पराक्रम है। ताडका का वध करनेवाला यही राम भविष्यकाल में रावण का भी वध कर सकेगा, ऐसा यदि तत्कालीन श्रेष्ठ पुरुषों, यथा विश्वामित्र आदि ने सोचा होगा तो कोई आश्चर्य नहीं है।

महर्षि विश्वामित्र द्वारा दशरथ से राम को माँग लेना और कुलगुरु वसिष्ठ के आदेश से दशरथ द्वारा राम विश्वामित्र को सौंप देना—यह बालकांड की घटना रामचरित्र के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राम स्वयं जन्मतः हीरा ही थे, पर उनका कर्तृत्व अपनी राजधानी अयोध्या तक सीमित था। हीरे को तराशना पड़ता है। रामरूपी हीरे को तराशकर उसका तेज दसों दिशाओं में फैलाने का बहुमूल्य कार्य विश्वामित्र ने किया। नरमांस खानेवाले राक्षसों से यज्ञ का रक्षण करना यह तात्कालिक निमित्त कारण था, परंतु राम के हाथ से संपन्न होने वाले भविष्य के अवतार कार्य निर्बाध होकर उन्हें यशस्वी और वर्धिष्णु बनाने के लिए शायद नियति ने ही विश्वामित्र को प्रेरणा दी होगी। ऐन युवावस्था में पैर रखते हुए राम को विश्वामित्र जैसा तपस्वी, निस्पृह और अस्त्रविद्या परायण गुरु मिलना, यह घटना केवल बालकांड की ही नहीं, पूरी रामायण की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई है।

विश्वामित्र ने राम को अस्त्रविद्या तो निष्णात किया ही, पर दैनिक नित्यकर्म भी निष्ठा से करने होते हैं, यह राम के मन में बिंबित किया। उनका यह मार्गदर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण है। विश्वामित्र राम को 'अस्त्रसंपन्न' करते हुए उसे व्रतसंपन्न भी करते जा रहे थे। इससे विश्वामित्र की दूरदृष्टि और संयोजन क्षमता दृष्टिगोचर होती है। राम को अपने जीवन में इन सब बातों से बहुत लाभ हुआ।

गुरु विश्वामित्र के साथ रहते हुए राम की सेवा में तत्पर रहने से वह सेवाभाव, विनय, गंभीरता आदि गुणों से संपन्न था, यह हमारे ध्यान में आता है। संयम राम का स्वभाव धर्म था, यह तथ्य बालकांड में यत्र-तत्र रेखांकित हुआ है। आत्मप्रत्यय और आत्मविश्वास राम के स्वभाव की विशेषताएँ हैं। निश्चय या निर्धार राम का सबसे बड़ा सद्गुण है। इन सभी गुणों का सम्मोहक दर्शन हमें बालकांड में होता है।

वैसे देखा जाए तो बालकांड का राम नित्य कर्मपरायण और पुरुषार्थी है। वह गायत्री

का भक्त था और गायत्री मंत्र का नित्य उपासक था, यह तथ्य लोगों के सामने प्रकट नहीं हुआ है। आदिकवि ने वाल्मीकि-रामायण में राम का जो भव्य और उदात्त स्वरूप वर्णित किया है, वह पूरे अर्थों में, अपने सभी रूपों के साथ जन-सामान्य के समक्ष अभिव्यक्त होना चाहिए था। वह नहीं हो पाया और कवियों की प्रतिभा शिलारूप अहल्या के उद्धार और सीता-स्वयंवर में ही अटकी रही। रामचरित्र से प्रयत्न और पुरुषार्थ का संदेश लेकर उसे प्रचारित करने के बजाय रामभक्तों ने उसके 'संकट-मोचन' रूप को ही अधिक महत्त्व दिया। इसीलिए राम के सामने मनौती माँगना, प्रार्थना करना, जप-पारायण करना ही रामभक्तों का पुरुषार्थ रहा।

स्वयं तेजस्वी होते हुए भी राम हमेशा तेज की उपासना में लगे रहे, युवावस्था में भी कभी विनय नहीं छोड़ी, ऐश्वर्यसंपन्न होते हुए उन्मत्त नहीं हुए। सैकड़ों दास-दासियों के रहते हुए स्वयं ही माता-पिता की सेवा की। गुरुजनों के समक्ष कभी भी अपने अस्तित्व या महत्ता का दिखावा नहीं किया। वाल्मीकि ने अक्षर-अक्षर से ऐसे राम को चित्रित किया है रामायण में। यही राम हमारा आदर्श है, होना भी चाहिए।

बालकांड से अपरिचित रामायण के पाठकों को परिचित कराने का हमने यथाशक्ति प्रयास इस ग्रंथ में किया है। संपूर्ण रामायण के अपरिचित भाग का शब्द-संयोजन करने के लिए ५-६ वर्ष का समय भी लग सकता है, क्योंकि अयोध्याकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड बालकांड की अपेक्षा अधिक बड़े हैं। वे अधिक विस्तृत हैं, अधिक व्यक्तित्व भी चित्रित किए गए हैं। कथानक के साथ-साथ प्रसंग भी बढ़ते हैं। उपकथानकों की तो जाने दीजिए, पर संपूर्ण रामायण के मूल कथानक के अपरिचित भाग पर भाष्य लेखन के लिए अपेक्षाकृत समय भी चाहिए और स्वास्थ्य की अनुकूलता भी। यह सब संभव होना मुश्किल लग रहा है। इसलिए यहीं पर बालकांड का उपसंहार करते हुए अपनी लेखनी को आपकी अनुमति से विराम देता हूँ।

□□□

ISBN 978-93-81063-22-4
9 789381 063224
₹ 250/-
ग्रंथ अकादमी
नई दिल्ली